आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

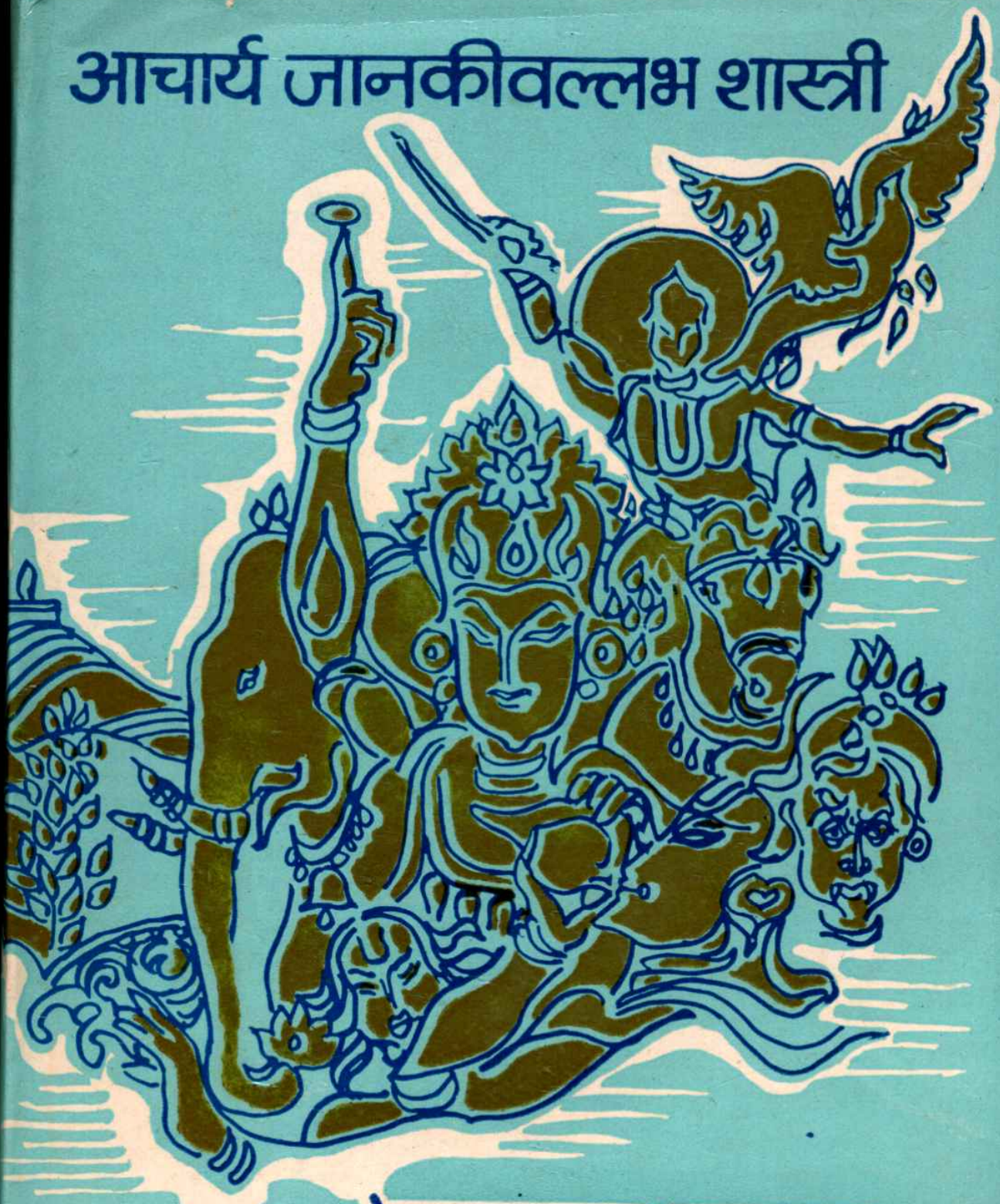

# गाथा

यह है गाथा ! आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की जादुई लेखनी का अद्‌भुत चमत्कार ! कविता के कलेवर में धड़कती हुई सात कहानियों के इस संकलन की प्रत्येक रचना एक ऐसे करुण व्यंग्य की सृष्टि है जिसमें निहित नग्न यथार्थ का अजस्र प्रवाह उदात्त के स्पर्श से मर्यादित-अनुशासित करता हुआ पाठक को रस के उस महासागर से जा मिलाता है जहाँ अनुभूतियों की प्राणवान, परिवर्तनकामी हिलोरें निरन्तर उठती हैं। काव्यात्मकता ने इन कहानियों की तीव्रता को कहीं से तनिक भी कुण्ठित नहीं किया बल्कि उसे और धारदार बना दिया है। सन् '४१-'४२ में लिखी गई ये कहानियाँ आश्चर्य-जनक रूप से प्रौढ़ि के उस उत्कर्ष को छू सकी हैं जो स्पृहणीय है। इनकी अनायास स्फुरित प्रयोगधर्मिता, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, चित्रात्मकता, वर्णन की महीन पच्चीकारी, पात्रानुकूल सम्वाद-योजना, वातावरण-सृजन आदि ने तत्कालीन प्रखर आलोचक-वर्ग और आम पाठकों को समान रूप से प्रभावित किया था और आज भी इन रचनाओं की प्रासंगिकता कम नहीं हुई बल्कि कहना चाहिए कि बढ़ गई है।

यह कृति हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, स्वयं शास्त्री जी के साहित्य में भी निपट निराली है। इसका प्रथम संस्करण १९४४ और द्वितीय संस्करण १९५८ में 'कला-निकेतन, पटना' द्वारा प्रकाशित किया गया था। हमारे लिए प्रसन्नता और गौरव का विषय है कि हम इस चिर नवीन विस्मृत-गाथा को पुनः हिन्दी-पाठक के समक्ष ला रहे हैं। हमारा विश्वास है कि साहित्य-जगत् में आचार्य जानकी-वल्लभ शास्त्री की इस शक्ति-सम्पना रचना का ऊष्मित स्वागत होगा।

—प्रकाशक

# गाथा

प्रीति मन्दिर प्रकाशन

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

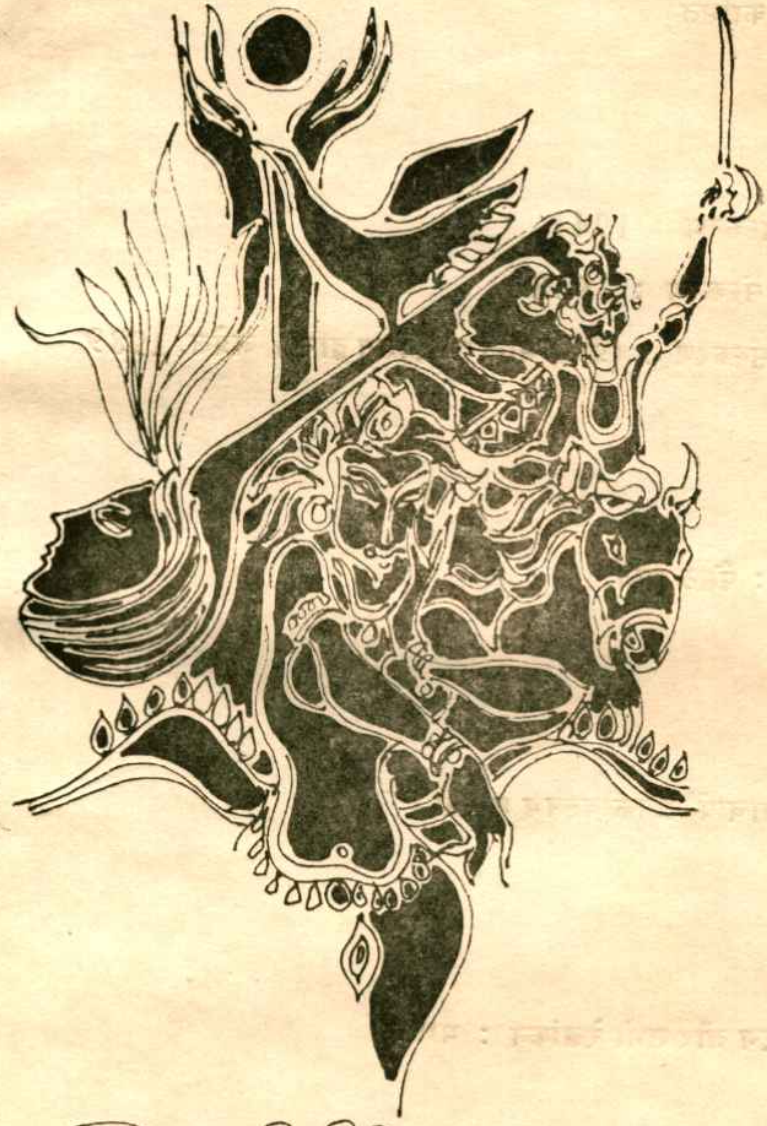

# गाथा

प्रकाशक :
प्रीति-मन्दिर-प्रकाशन
1/6816, पूर्वी रोहतास नगर
बाबरपुर मार्ग, शाहदरा
दिल्ली-110032
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1944
द्वितीय संस्करण : 1958
तृतीय संस्करण : (प्रीति-मन्दिर-प्रकाशन द्वारा) अप्रेल, 1989

मूल्य : पैंसठ रुपये

© आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

आवरण और सभी रेखांकन : मार्टिन

मुद्रक : पङ्कज प्रिण्टर्स, मौजपुर
दिल्ली-110053

**GAATHA** (Katha-Kavya) : *Aacharya Jankivallabh Shastri*
Rs. 65.00 (1989)

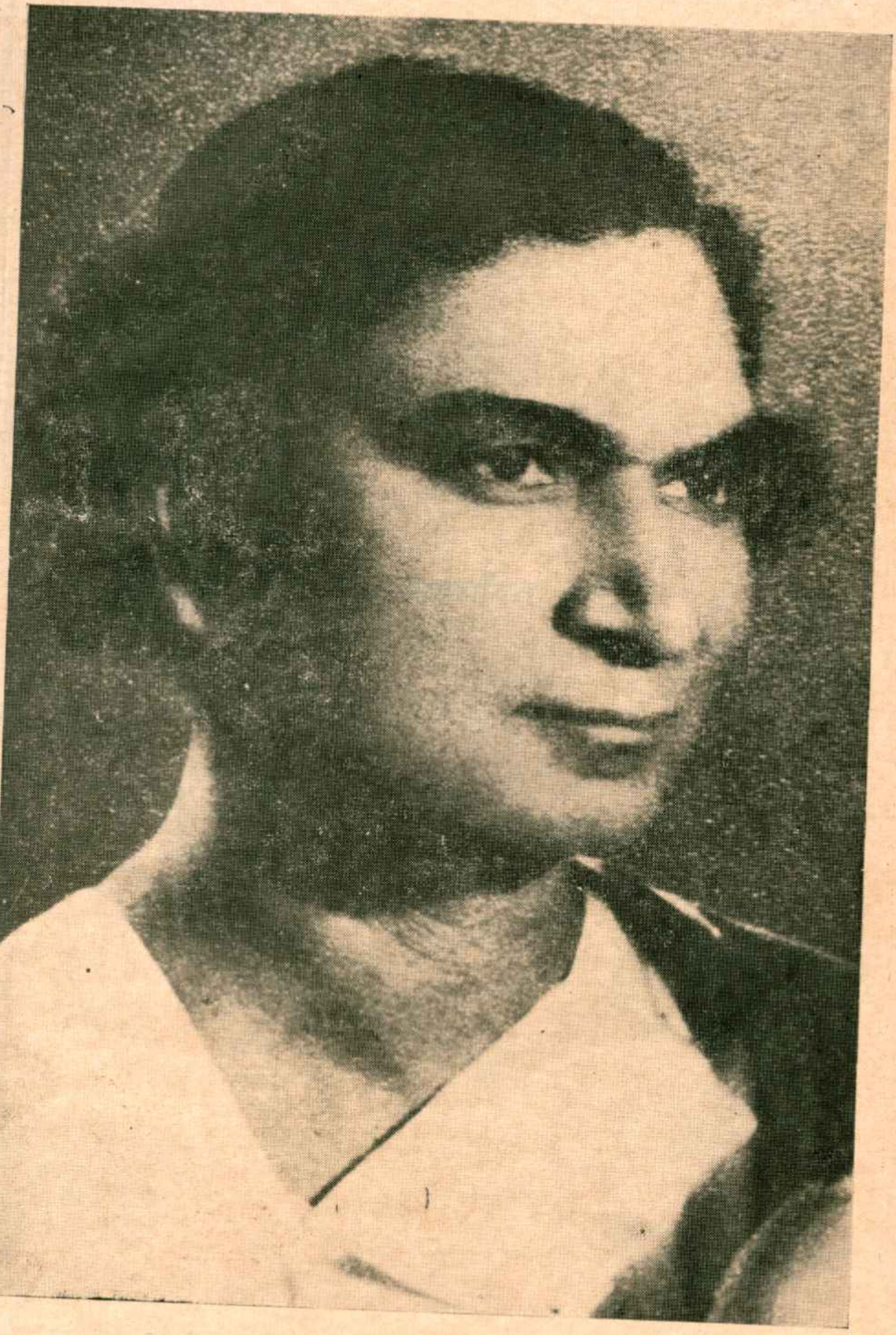

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

असमर्पित

# वेदना

'गाथा' काव्य तथा कथा का मध्यवर्त्ती प्रयोग है। मेरे मन में इसका आविर्भाव इसी रूप में हुआ था, अतः इस अनायास स्फुरण को वस्तुतः न प्रयास कहना चाहिए, न प्रयोग; किन्तु अनचाहे अथवा मनचाहे काम की सफलता की कसौटी यदि तात्कालिक लाभ ही हो, तो मैं और क्या कह सकता हूँ, मेरा आज तक का जीवन भी तो, हानि उठाकर किया हुआ, एक असफल प्रयोग ही है !

उन्हीं दिनों, 'गाथा' के बाद, 'पाञ्चाली' और 'वैसाखी', दो और नए प्रयोग किए थे मैंने। इनमें मानवीय आशा और विभीषिका, विजय और पराजय को उनकी अनावृत वास्तविकता एवं यथार्थता में अङ्कन करना ही मेरा उद्देश्य था। व्यंग्यात्मकता इनकी भी प्रकृति थी; क्योंकि व्यंग्य को मैंने फास्ट (Howard fast) की भाँति यथार्थता तक जल्दी पहुँचाने वाली पगडण्डी ही माना है : Satire is a means whereby irony ridicule and sarcasm are used to expose tyranny, vice, follo, and stupidity; and thereby Satire becomes a shortcut to reality. किन्तु तो भी ये 'गाथा' से पृथक्-प्रकार के थे। यहाँ आभ्यन्तर वैषम्य की विवृति अप्रासंगिक भी हो, तो 'पाञ्चाली' एक गीति नाटच है और 'वैसाखी' सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र व्यंग्य-मुक्तक, यह बाह्य विभेद तो स्पष्ट ही है :—

नारी-जीवन गीला ईंधन,
आग धुआँती धीमे ;
फूंक रही मैं, मेरी तो
पाँचों अँगुलियाँ घी में !

× × ×

माता की आज्ञा कि एक ले—
अस्थि, दूसरा चर्म,
प्राण-तत्त्वमय नारी···

× × ×

माता की आज्ञा कि बनाऊँ
पाँच हृदय के खण्ड !

—पाञ्चाली

ऐसे कान तक तानकर 'धर्म' के मर्म पर पाञ्चाली ने पञ्च बाण छोड़े हैं। शील की उजली राख से ढँके हुए उसके विशुद्ध नारीत्व के लाल-लाल अंगारों की धधक उस नाट्य-कुण्ड में है। ऐसे ही वैसाखी' के व्यंग्य-मुक्तकों का भी अपना मौलिक व्यक्तित्व है—

कोई-कोई बात अनोखी हो जाती है,
चुप्पी से भी जाहिर शोखी हो जाती है !
जो मक्खी मारता, कहा जाता हत्यारा,
कद्दू पर सितुही भी चोखी हो जाती है !

× × ×

सारी की सारी चर ली, अब घास नहीं है,
साफ हुआ मैदान, पास आकाश नहीं है !
इधर देखता, उधर देखता, आगे, पीछे,
मैं अपने को कब देखूं, अवकाश नहीं है !

—वैसाखी

'पाञ्चाली' और 'वैसाखी' मूलतः नाट्य काव्य-ग्रन्थ हैं; किन्तु 'गाथा' में कथा-भाग भी तुल्यबल है। सुहागरात, कल्कि-अवतार आदि में कथा-तत्त्व तथा काव्य-तत्त्व की समशीर्ष स्पर्द्धा मेरे आलोचकों को भी दिखी है।

गाथा का स्थापत्य भी आकस्मिक नहीं है। यों सन्'३९ में 'रूप-अरूप' के प्रकाशित होने पर मैं महज गीतकार समझा जाने लगा था, किन्तु उसमें ऐसी रचनाएँ भी कम न थीं, जिनकी सार्थकता गेय होने तक सीमित न थी—

टूटी प्रिय डाल !
गिरा पड़ा नीड़ भूमि पर है बेहाल !
जीर्ण-शीर्ण पंखों में,
गुम्फित तृण-अङ्कों में,
अंडे बिखरे टूटे-फूटे;
सोए कुछ शब्द मौन,
उलझे ऋतु-अब्द, कौन
कहे—स्वप्न पलकों से छूटे !
कौतुकवश घेर खड़े मुग्ध ग्वाल-बाल !

टूटी प्रिय डाल !
पथिक भीड़ लख धाए,
घटना-स्थल पर आए,
एक व्याध का भी मन डोला;
अंडों पर दृग कर स्थिर,
नीड़ के निकट फिर-फिर,
सिर धुनता कर मलता बोला :—
'लूट ले गया असमय, कपटी रे काल !'

जहाँ तक छन्द के आवर्त्त का प्रश्न है, निराला को छोड़कर शायद ही किसी कवि ने ऐसा विषम पथ पसन्द किया हो, पर इसकी प्रकृति न तो आत्माभिव्यंजक है, न भावात्मक ही। यह मेरे दूसरे गीतों से ताल मिलाकर नहीं बजता। उल्टे यह वस्तु परक, ईषद् वर्णनात्मक और सबसे बढ़कर व्यंग्यमूलक है। इसमें एक छोटी-सी कहानी भी कही गई है—करुण; किन्तु इसके चरम बिन्दु में करुणा का उपहास नहीं, वेदना का गर्जन नहीं, एक तीक्ष्ण व्यंग्य भर है, जिसे इसकी गेयता होने ने ही कदाचित् सह्य बना दिया है। 'रूप-अरूप' में ऐसे कितने ही प्रयोग थे—

मिट्टी के हाथी-घोड़े—
माँ देने आती, लड़ पड़ते,
वह लड़के थे थोड़े !
बड़े-बड़े थे उनके बाल,
गोल, गुलगुले, गंदे गाल,
चलते-फिरते, आते-जाते,
बाबू के बेटों के,—
हँसकर सहने के आदी थे—
घूंसे, चप्पत, कोड़े !
× × ×
घोड़े दौड़े सरपट-हरपट,
हाथी चले कान कर फटफट,
लड़के लड़ के बोले —अम्मा,
देखो हाथी-घोड़े !
पानी रोक बंद आँखों में—
वह थी गरदन मोड़े !

यहाँ भाषा-सम्बन्धी प्रगल्भता को सविशेष लक्ष्य करना उचित होगा। ये रचनाएँ 'कुकुरमुत्ता' और 'गर्म पकौड़ी' से वर्षों पहले की हैं। साहित्यिक आभिजात्य का यह अतिक्रमण, गीति-नीति का यह उल्लङ्घन मेरे अवचेतन मन का निजी अवदान था। गीति के संकुचित पट में लघु-कथा तथा व्यंग्य-व्यथा बुनने का मेरा वही हौसला 'गाथा' में भर कर उभर उठा है। इस प्रकार 'गाथा' मेरे निजी बीजांकुर का ही वन्य विकास है, कोई आकस्मिक कौंध नहीं। हाँ, मुझे अपनी आवृत्ति भी अप्रिय है, इसलिए पांचाली, प्यासी पृथ्वी, वैसाखी आदि में गाथा की 'टेकनीक' का ही मार्जन न कर नए-नए प्रयोग किए हैं।

'गाथा' नाम की प्रेरणा मुझे गाथा-सप्तशती से नहीं, निराला से मिली थी। इस नाम की कल्पना उन्हीं की थी।

सन्'४१ के दिसम्बर महीने में 'दो आँखें' लिखी गई थी, शेष कहानियाँ '४२ में। मुक्त जी ने उन्हें कथा-काव्य की आख्या प्रदान की थी। पत्र-पत्रिकाओं से उबार कर उन्हें पुस्तकाकार करने में लगभग दो वर्ष निकल गए। मुक्त जी ही 'गाथा' के प्रथम प्रकाशक थे। लेखन से प्रकाशन तक मुक्त जी का प्रोत्साहन देखने ही योग्य था। उन दिनों वह न मिले होते तो ? तो क्या आज उन-ऐसे अपने के प्रति भी मुझे औपचारिक कृतज्ञता ज्ञापित करनी होगी ?

श्री नलिनविलोचन शर्मा ने प्रस्तावना में आधुनिक काल के विश्व के प्रतिनिधि साहित्य-स्रष्टाओं के साथ मुझे फिर-फिर उल्लिखित किया है। अन्यत्र भी, अपने प्रतिवेशियों द्वारा बार-बार सावधान किए जाने के बावजूद, वह मेरे सम्बन्ध में असावधान, अकृपण ही रहे हैं, ऐसे में, उनकी इस कूटस्थ तटस्थता के लिए मेरे हृदय में दुर्बलता हो भी, तो क्या आश्चर्य ?

पन्द्रह वर्ष पहले के इस अकिंचन प्रयोग को आज के समृद्ध प्रयोग-साहित्य में कोई स्थान मिले न मिले; मेरे 'छायावादी' (!) साहित्य में 'प्रगति-प्रयोग' के अविभक्त तत्त्व दिखें न दिखें; किन्तु मेरी साहित्य-साधना आत्मविश्वास के अखण्ड प्रकाश में सजग रहे, गाथा के इस बहु-विलम्बित द्वितीय संस्करण के अवसर पर, अपने सहृदय पाठकों से मैं इसी आशीर्वाद का अभिलाषी हूं।

निराला निकेतन
मुजफ्फरपुर
१.१.५८

विनीत
**जानकीवल्लभ शास्त्री**

# प्रस्तावना

'साहित्य-दर्शन'* के असाधारण विद्वान् लेखक की प्रतिभा उनकी विद्वत्ता को 'गाथा' में बहुत पीछे छोड़ गई है। यह बहुत कम लोगों के बारे में कहा जा सकता है। विद्वत्ता और प्रतिभा का संयोग साधारणत: नहीं देखा जाता। ऐसा हुआ भी तो विद्वत्ता आसानी से प्रतिभा को जकड़ लेती है।

प्रतिभा अकेली भी बड़ी चीज है। विद्वत्ता गलकर भी जले नहीं, और निखर आए तो वह बहुत बड़ी चीज है।

रवीन्द्रनाथ में रेखाएँ खींचने की प्रतिभा थी। केवल प्रतिभा ही थी, उन्होंने और उनके आलोचकों ने भी यही कहा और माना है। इस दिशा में उनके प्रयोग निस्सन्देह प्रशंसनीय हैं। पर यह मानना पड़ेगा कि उनके प्रयोग 'पिकासो' के प्रयोगों की महत्ता का दावा नहीं कर सकते। रवीन्द्र की चित्रकला के विरुद्ध यहाँ के या विदेश के आलोचकों ने कुछ नहीं कहा। पर उनके पहले और उनसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोगों के लिए 'पिकासो' को अधिकारी आलोचकों की उपेक्षा और कटूक्तियाँ सहनी पड़ी थीं। उनके रेखांकनों के 'अतिशय सचेष्ट सरलीकरण' से क्षुब्ध होकर एक कला-विशेषज्ञ ने लिखा था कि उनसे अधिक सार्थक लकीरें तो स्कूल का छात्र भी खींच ले सकता था। पर जब उन्हें यह बतलाया गया कि पिकासो प्रारम्भ में वर्षों तक नियमित रूप से एक प्रसिद्ध और परिपाटी के अनुसार चित्र बनाने वाले उस्ताद के तत्त्वावधान में रेखांकन सीख चुका था, तो उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही।

पिकासो ने चित्रकला का व्याकरण सीख कर उसका अतिक्रमण किया था। रवीन्द्र को चित्रकला की कभी नियमित शिक्षा नहीं मिली थी; इसलिए उनकी चित्रकला मीठी तुतलाहट भर रह गई। जानकीवल्लभजी की प्रतिभा शास्त्रीय रूढ़ियों का यथेष्ट उपयोग कर लेने के बाद मानवता की ओर आकृष्ट हुई है।

पर 'गाथा' की चित्रकलात्मकता की 'पिकासो' की कला से कोई तुलना नहीं है। इसमें साहित्य का अभिव्यंजनामूलक त्रिकोणवाद नहीं मिलेगा। 'गाथा' के काव्य-चित्रों में अभिव्यंजनावाद के परवर्त्ती (Post-impressionist) 'वॉन

---

*कवि का निबन्ध-संग्रह जिसका प्रथम संस्करण १९४३ और पाँचवाँ संस्करण १९६७ में प्रकाशित हुआ।

गोग' के चित्रों की-सी यथार्थता और मनुष्यता की प्रेरणा है। 'गाथा' का कवि 'The Prison Yard' के चित्रकार की तरह कहता सुनाई पड़ता है—'I want to paint humanity, humanity and again humanity.' मैं मानवता को चित्रित करना चाहता हूँ, मानवता को, और फिर-फिर मानवता को ही।

काव्य में इस मानवीय यथार्थता को पहले के महाप्राण कलाकारों ने भी निर्भीकता के साथ अपनाया है। आधुनिक काल के कुछ उदाहरणों को छोड़कर, समस्त हिन्दी-साहित्य को और संस्कृत के भी एक दीर्घकाल को पार कर पैशाची-प्राकृत में लिखी और आज सदा के लिए खो गई 'बृहत्कथा' में इसका विस्मय-जनक विकास हुआ था। यह तो उसके संस्कृत के संक्षिप्त संस्करण सोमदेव-रचित 'कथा-सरित्सागर' को देखकर भी कहा जा सकता है।

यह आश्चर्य का विषय है कि इङ्गलिश-काव्य में भी इस प्रकार की यथार्थता का दर्शन उसके आदि महाकवि चासर में ही होता है। 'कैंटरबरी टेल्स' के अनेक निरावरण वर्णन केवल अपनी मनुष्यता के कारण ही अश्लील के बदले विराट् हो गए हैं। फिर, युगों के बाद, आस्कर वाइल्ड का 'दि बैलड आफ रीडिंग जेल' इस दृष्टि से एक सर्वथा अप्रत्याशित पर श्रेष्ठ रचना है। इस चमत्कार-परिष्कारवादी साहित्यिक के जीवन में यदि एक अमार्जनीय प्रभावशाली दुर्घटना न घटती तो उसकी यह सर्वोत्तम काव्यकृति लिखी ही न जाती। 'वॉन गोग' ने जो काम रंगों और रेखाओं के माध्यम से किया है, वही वाइल्ड ने शब्दों के सहारे।

विक्टोरियन युग की अवास्तविकता की प्रतिक्रिया के रूप में किप्लिंग ने, जहाँ तक विषय का प्रश्न है, बहुत ही स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया था। जैसा कि हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक में एक अमरीकन आलोचक ने दिखलाया है, किप्लिंग की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है अद्यावधि त्याज्य विषयों को काव्य के योग्य समझना। बैरकों में रहने वाले सिपाही, जहाज और एंजिन—ये सब किप्लिंग की कविता के विषय हुए। उसने केवल यही नहीं प्रमाणित किया कि विषय की साधारणता के बावजूद कविता उत्कृष्ट हो सकती है, इससे ज्यादा यह भी कि सिपाही पर लिखी गई कविता में उसकी असंस्कृत बोली के शब्द और मुहावरे भी त्याज्य नहीं हैं। किप्लिंग इंग्लिश का बहुत श्रेष्ठ कवि नहीं है, इसका कारण कुछ और ही है।

आधुनिक युग के कवियों ने इस बात का प्रयत्न किया है कि वे उदात्त को ही नहीं, साधारण को भी अपनी कविता में ग्रहण करें। इसे पहले के कवियों ने भी कठिन पाया था, आज के भी पाते हैं। पारस लोहे को छूता है और स्वयं भी लोहा हो जाता है!

'न्यू सिग्नेचर्स' के सम्प्रति प्रसिद्ध कवि डब्लू. एच्. ऑडेन, एसिल डे लेविस,

स्टेफेन स्पेंडर आदि साधारण को अपनी कविता के विषय के लिए लेते हैं और अपनी समाजवादी दार्शनिकता से उसका ऊर्ध्वपातन' करते हैं, जैसे, ऑडेन 'स्पेन' में, 'डे लेविस' 'द् नबारा' में। कथा-सरित्सागर, केंटरबरी टेल्स और 'बैलड आफ रीडिंग जेल' में भी साधारण का 'ऊर्ध्व-पातन' हुआ है, पर उनके कवियों को प्रेरणा मिली है मनुष्य की सनातन दुर्बलताओं के प्रति सजग सहानुभूति से ही।

जानकीवल्लभजी को भी मनुष्य के किसी वर्ग-विशेष के ही नहीं, प्रत्युत मनुष्यमात्र के अभाव, पीड़ा या दुर्बलता से सजग और संयत सहानुभूति है।

यह सहानुभूति उस नासमझ माँ की नहीं, जो बीमार बच्चे की तकलीफ कम करने के लिए कुपथ्य दे देती है, न आँसू बहाने वाले स्त्रैण भावुक की है। इस सहानुभूति में, जरूरत पड़ने पर, कड़वी दवा और नश्तर का भी उपयोग हुआ है : 'गाथा' के व्यंग्य जिन्हें ऐसे मालूम हों, उन्हें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उनका सदुद्देश्य भी है।

हिन्दी की 'स्ट्राबेरी और क्रीम' कविता की चलती परम्परा में ऐसे प्रयोगों का स्वागत होना चाहिये। आज हिन्दी के पाठकों और आलोचकों का एक उल्लेखनीय वर्ग उस बौद्धिक धरातल को पहुँच गया है, जहाँ वह सस्ती शोहरत पाने के लिए चित्रित अश्लीलता और मर्मज्ञ कलाकार की स्पष्टोक्ति और यथार्थता के विभेद को ग्रहण कर सकता है।

अश्लीलता विषय में नहीं, अभिव्यंजना-पद्धति में छिपी रहती है। शारीरिक नग्नता को साधारणत: अश्लील माना जाता है—इसलिए स्वभावत: उसके चित्रण-वर्णन को भी। पर शारीरिक नग्नता की, विश्व की दो श्रेष्ठ प्राचीन सभ्यताओं—भारतवर्ष और ग्रीस—की कलाओं में, सर्वजनप्रशंसित अभिव्यंजना पाई जाती है। इसका यह अर्थ नहीं कि दुनिया के तमाम अखबारों में विज्ञापित फ्रेंच तस्वीरें ऊपर के न्याय से अश्लील के सिवा और कुछ हैं।

'उग्र' के नैतिक आलोचकों द्वारा परम निन्दित और शायद इसीलिए परम लोकप्रिय पुस्तक-विशेष का विषय अश्लील नहीं। 'वाइल्ड' के 'द पिक्चर आफ डेरियन ग्रे' की बात छोड़िए, विश्व के श्रेष्ठ गल्प-लेखकों में अग्रगण्य 'मार्सेस प्रूस्ट' ने इस विषय का सांगोपांग विश्लेषण किया है और किसी भी विवेकशील आलोचक ने उस पर अश्लीलता का दोषारोपण नहीं किया। पर, यह ठीक ही है कि विषय के अश्लील न होने पर भी 'उग्र' की पुस्तक निस्संदेह अश्लील हो गई है। कारण दो हैं, जिनका उल्लेख आलोचकों ने नहीं किया है; उन्होंने जिनका उल्लेख किया है, वे सब कारण गलत हैं। 'उग्र' का उद्देश्य कला की सृष्टि नहीं, एक नैतिक विकृति के खिलाफ जिहाद करना है। यह उद्देश्य तो स्तुत्य है, पर इसका साधन गलत नहीं होना चाहिए, और फिर इतनी जायकेदार शैली का

गल्प ! आलोचक गलत है कि 'उग्र' का विषय अश्लील है। 'उग्र' भी सही नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने नैतिक उन्नयन के लिए गल्प का अनुपयुक्त उपाय चुना है। उन्हें समाज-विज्ञान के योग्य गम्भीर शैली के निबन्धों का आश्रय लेना चाहिए था, जैसा कि हैवलाक एलिस, मेरी स्टोप्स आदि ने किया है।

अगर कलाकार और डॉक्टर अपनी ओर से निर्लिप्त हैं तो मनुष्य के शरीर या मन के चित्रण-परीक्षण का उन्हें पूरा अधिकार है। पाठकों को तो होना ही चाहिए। जैनेन्द्र ने कहीं अपने बारे में लिखा था कि किशोरावस्था में थोड़े दिनों तक स्त्रीमात्र के चित्र को देखकर उनका चित्त अन्यथावृत्ति हो जाया करता था। लंदन के एक सार्वजनिक स्थान में रखी गई 'एप्स्टाइन'-निर्मित एक मूर्त्ति पर नैतिकता के हिमायतियों-द्वारा सड़े अण्डे और पुराने जूते फेंके जाते रहे—और कहने वाले कहते हैं कि अपना रोष प्रकट करने के इस तरीके की मदद से उन लोगों को फायदा यह होता था कि वे काफी नजदीक से उस मूर्त्ति की बारीकियों को देख पाते थे। सो पाठक चाहे तो ग्रीक या भारतीय मूर्तियों में, महान् कलाकारों के चित्रों में, कालिदास, श्रीहर्ष, तुलसी, सूर, चासर प्रभृति की रचनाओं में अश्लीलता ढूंढे, उसे कौन रोकेगा ? रोकेगा कोई नहीं, पर इन कृतियों की तह तक पहुँचकर कूड़ा-करकट बटोरने के सिलसिले में वह अनिवार्य रूप से इतना संस्कृत हो जायगा, उसकी दृष्टि इतनी निर्मल हो जायगी कि उसे रत्न ही हाथ लगेंगे। इसलिए, उत्कृष्ट साहित्य को इस प्रेरणा से, ऐसे अनधिकारी पाठक पढ़ेंगे, इसका डर नहीं है। रेलवे बुकस्टाल से 'कनफेशन सीरीज' की पुस्तकों को खरीदकर पढ़ने वाले पाठक जेम्स ज्वायस की 'यूलिसिस' और लारेंस की 'लेडी चैटर्लीज लवर' मुफ्त पाकर भी पढ़ने की क्षमता नहीं रखते, यह निर्विवाद है। यदि उनमें से बिरला कोई इन पुस्तकों को पढ़ सके तो उसकी इतनी शिक्षा अनायास ही हो जायगी कि वह सभी बातों को, योजना में अपनी सही जगह पर ही देखे।

मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि हिन्दी का एक पाठकवर्ग पर्याप्त चैतन्य है। पाश्चात्य साहित्य से परिचित, हिन्दी के प्रचलित काव्य से अप्रभावित इस वर्ग के पाठकों को 'निराला' की 'कुकुरमुत्ता' और 'अज्ञेय' की 'चिंता' जैसी दो-चार रचनाओं को दिखाने के बाद उनकी बहुत हद तक बदली राय को देखने का मुझे सन्तोष प्राप्त हुआ है। उनमें से जिन्होंने 'गाथा' को पढ़ा या सुना, उन्हें हिन्दी-कविता की शक्ति और विकास पर आश्चर्य हुआ।

जानकीवल्लभजी की लेखनी के स्पर्श से कविता के लिए त्याज्य विषय ही नहीं, कितने ही अभिशप्त शब्द भी उद्धार पा गये हैं। जेम्स ज्वायस, डी० एच्० लारेंस और जैन डॉस पैसस ने इस सम्बन्ध में जो अपने गद्य में किया, वह

जानकीवल्लभजी ने अपने पद्य में किया है। बहुत पहले भी ऐसी शक्ति स्तुत्य मानी जाती थी :

**प्रौढ़ि-प्रकर्षेण पुराणरीति-व्यतिक्रमः श्लाध्यतमः पदानाम् ।**
**अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि ।।**

भाषा चरित्रों के अनुकूल परिष्कृत, चलती हुई या अनगढ़ है—पर अव्यभिचारतः स्वाभाविक है। जहाँ कवि को अपनी ओर से कहना है, वहाँ पांडित्य और लालित्य पर उसके समान अधिकार के स्पष्ट प्रमाण हैं।

पद्य-कौशल की, हिन्दी के लिए, एक उल्लेखनीय विशेषता है। अब से बहुत दिन पहले 'निराला' ने 'सरोज' में प्रकाशित अपने एक लेख में 'प्रसाद' को हिन्दी में पहले-पहल पंक्ति के मध्य पूर्ण-विराम को उपयोग में ले आने का श्रेय दिया था। आज भी हिन्दी के दो-एक ही कवि सामान्य रूप से इसका उपयोग करते हैं। स्वयं 'प्रसाद' जी भी पीछे इस पर ध्यान नहीं देते थे। 'कामायनी'-जैसे प्रबन्ध-काव्य में इसकी अनुपस्थिति इसका पर्याप्त प्रमाण है। वस्तुतः 'निराला' ने ही इसका महत्त्व समझा है। पंक्ति की समाप्ति के साथ ही अनिवार्य रूप से भावविशेष की समाप्ति कर देना छन्द के 'चरणों' में आत्मसमर्पण कर देना है। इस 'एण्ड स्टाप्ड' पद्य को इंग्लिश में युगविशेष के कवियों-द्वारा प्रश्रय मिला था, आलोचकों द्वारा प्रशंसा कभी नहीं। उन्होंने इसकी संकीर्णता और कृत्रिमता का अविलम्ब अनुभव कर लिया। पर हिन्दी का बहुत दोष भी नहीं है। उसकी समृद्ध परम्परा की यह एक नियमित और अवांछनीय विशेषता रही है। संस्कृत के छन्दों में, भाव समाप्त हों या नहीं, द्वितीय चरण के बाद विराम रहता था और प्राचीन हिन्दी के दोहा, चौपाई, घनाक्षरी, सवैया आदि में तो संस्कृत के अन्वय की कठिनता के नहीं रह जाने से नियमित विराम के साथ भावसमाप्ति अनिवार्य थी ही। यही बात बगल में पनपनेवाली उर्दू के बारे में भी थी और है। और दूसरी नवीनताओं को ग्रहण करने पर भी उसकी नज्म अभी तक इस बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकी है। बँगला-पद्य ने बहुत पहले इस कृत्रिमता का त्याग कर दिया था। हिन्दी में 'निराला' के बाद जानकीवल्लभजी ने ही इसकी निःसन्दिग्ध आवश्यकता समझी है। यह हिन्दी के पद्य-कौशल की प्रौढ़ता का द्योतक है।

समासतः 'गाथा' हिन्दी-काव्य के सर्वाङ्गीण और अविच्छिन्न विकास का प्रतीक है।

**—नलिनविलोचन शर्मा**

# क्षेपक

अनेक गद्य-पद्यात्मक हिन्दी-संस्कृत-कलाकृतियों के सिद्धहस्त प्रणेता आचार्य श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री की नवीनतम रचना 'गाथा' हिन्दी-पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हुए मुझे हर्ष से भी अधिक संतोष इसलिए हो रहा है कि सम्भवतः इसका प्रकाशन हिन्दी-काव्य-धारा को एक नया संकेत और नई दिशा का निर्देश कर सकेगा। 'सम्भवतः' शब्द का प्रयोग मैं शिष्टाचारवश ही कर रहा हूँ, अन्यथा प्रकाशन से पूर्व जिन अनेक विश्रुत विद्वानों ने 'गाथा' को देखा-सुना है, उन्होंने समस्वर से इस बात की घोषणा ही की है।

'गाथा' की पहली कथा 'दो आँखें' की रचना एक आकस्मिक प्रेरणा से हुई और संयोगवश उसका सर्वप्रथम श्रोता मैं ही बन सका। मुझे वह रचना बड़ी पुष्ट और मार्मिक जान पड़ी। शास्त्रीजी ने मेरी प्रबल प्रेरणा और अत्यधिक आग्रह से 'छह रातों में' शेष छहों कहानियाँ मंत्राविष्ट-जैसी स्थिति में, लिख डालीं।

रुचि-भेद की बात स्मरण रखते हुए भी मैं जानता हूँ कि यह पुस्तक आपको पसन्द आएगी; क्योंकि कवि ने इसमें एक बिल्कुल नवीन विषय-वस्तु को नयी शैली और नये दृष्टिकोण से उपस्थित किया है। 'गाथा' की एक सबसे बड़ी विशेषता मुझे यह जान पड़ती हैं कि विद्वज्जन जहाँ इसके काव्य-चमत्कार से आप्यायित होंगे, साधारण जन भी उसी तरह इसकी कथा-वस्तु और वर्णन आदि से प्रभावित होंगे। इतना होने पर भी, जो लोग शास्त्रीजी की पूर्वापर रचनाओं से परिचित हैं, वे केवल 'गाथा' से ही उन्हें तोलना पसन्द नहीं करेंगे। शास्त्रीजी के साहित्य-सर्जन का आरम्भ संस्कृत से होकर उसकी परिणति हिन्दी में होती है। उनकी संस्कृत की 'काकली' 'बंदीमंदिरम्' आदि, और हिन्दी की 'रूप-अरूप', 'तीरतरंग', 'राधा', 'पांचाली' आदि केवल काव्यकृतियों को देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'गाथा' उनका एक बिलकुल ही नया प्रयोग है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि अपने इस प्रयोग में उन्हें सम्पूर्ण सफलता मिली है।

'गाथा' की आत्मा को यदि एक शब्द में अभिव्यक्त करने की अनुज्ञा मुझे मिले तो मैं कहूं—'तीव्र'। 'गाथा' में जो कुछ है, मुझे लगता है, सब तीव्र

ही है। इसकी कथा-वस्तु, वर्णन-शैली, भाषा, सूक्तियाँ और इसके मार्मिक व्यंग्य, सभी में पाठक को उस तीव्रता का अजस्र प्रवाह मिलेगा, जो सत्य के साथ कदम-ब-कदम चलती है।

कहना न होगा कि 'गाथा' की कथाएँ कल्पना-प्रसूत नहीं, हमारे आज के जीवन से अपहृत हैं। सत्य में जो नग्नता, जो बल और जो प्रेरणा हो सकती है, वह तो इन कथाओं में है ही; इससे अधिक इतना और है कि वह सत्य एक असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता की छाया में बढ़ा-पनपा है। 'गाथा' की कथाएँ इसीलिए महान् हैं कि कवि ने कथा-प्रसंगों के अनुकूल पात्रों और चरित्रों को अपनी असीम सहानुभूति अथवा तीव्र-कठोर व्यंग्य समर्पित किया है।

'गाथा' की सभी कहानियों में शास्त्रीजी ने एक ही छंद का प्रयोग किया है। छंद यद्यपि सर्वथा नवीन नहीं है, फिर भी उसमें नवीन प्रयोग तो उन्होंने किये ही हैं। प्रत्येक छंद में आठ पंक्तियाँ हैं, जिनके अर्धांश में पहली-चौथी और दूसरी-तीसरी पंक्तियों में तथा शेष में पहली- सरी और तीसरी-चौथी पंक्तियों में अन्त्यानुप्रास का प्रयोग किया गया है। यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रत्येक छन्द का अन्तिम चरण या तो उसी छन्द की किसी पंक्ति की पुनरुक्ति है या उसका ईषत् परिवर्त्तित रूप—यद्यपि कहीं-कदाचित् बिलकुल स्वतंत्र पंक्ति का भी समावेश है। मेरा खयाल है, इस पुनरुक्ति से छन्द का प्रभाव और जोर कुछ अधिक बढ़ गया है।

'गाथा' की कहानियों में जहाँ चरित्रों की, वर्णन की, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की और परिस्थितियों की विविधता मिलेगी, वहीं भाषा की तदनुरूप विविधता भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होगी। यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है कि जो कवि संस्कृत में—

"निनादय नवीनामये वाणि ! वीणाम् !
मधुर-मञ्जरी-पिञ्जरीभूतमालाः
वसन्ते लसन्तीह सरसा रसालाः" —काकली

या

"परीरम्भारम्भाद्विकचकुचकुम्भाम्बरतरद्—
वियत्तारकाराभिनवमणिहारं प्रतिपदम्।"
—राधा-लास्यम्

तथा हिन्दी में—

"चटुल चरण धर मलिन पुलिन पर री,
मधु-संध्या उतरी।" —रूप-अरूप

× × ×

"सरित भरित-रस चली समद-पद—
जलनिधि-पद बल खाती,
उमग-उमग मग पर डगमग-पग
धर कलकल-स्वर गाती।"

—रूप-अरूप

× × ×

सौन्दर्य तुम्हारा नीर-भरा
है दरस अमृतमय तीर-भरा,
है परस वसन्त-समीर-भरा !

—तीर-तरङ्ग

कितना सरल वह मुख-शशी,
कितनी तरल निर्मल हँसी,
कितनी कठिन यह बेबसी—
कुछ स्वप्न में तो देखता, पर नींद भी आती कहाँ ?

—तीर-तरङ्ग

अथवा 'गाथा' में ही

"जीवन-गति पर, चंचल मति पर, अपनी क्षति पर डाल
सूक्ष्म दृष्टि·····"

× × ×

"कहा प्राण ने—'देख 'चन्द्र' वह', कहा ज्ञान ने—'लांछन' !
कभी 'गगन' देखा लक्ष्मी ने और कभी 'सूनापन'।"

× × ×

"नीर-नीर हो गए तीर, पिच्छिल पलकों की कोर,
रही चातकी-सी तकती लक्ष्मी जलधर की ओर—
मृषा, तृषा मिट सकी न, पूरी हुई न यह भी साध;
हँसी, बिज्जु कौंधी; रोई, बरसी,—तेरा अपराध !"

जैसी अर्थ-गौरव-युक्त और कोमल-कान्त-पदावली का निर्माण कर सकता है, वही स्थल-विशेष पर निम्नांकित पंक्तियों की भी अवतारणा कर सकता है—

"एक गरीब मलाहिन हूँ, थी गई हुई ससुराल,
सितला मैया की किरपा, है गाँव हुआ बेहाल
सास-ससुर सब सरग सिधारे, 'वे' रहते आसाम।"

× × ×

"वह हैं सुकनी और सनिचरी, एतबरिया सोमरिया,
भीड़ लगाए खड़ी हुई 'मेहरारू करिया-करिया"

× × ×

"रगड़ गई थी देह देह से, बात रही इतनी ही,
'रस्टिक गर्ल्स' हाय ! वे सब थीं, घात रही इतनी ही,
गर्द पड़ गई इसीलिए फूलोवाली शाखों में !"

यह इस बात का प्रमाण है कि भाषा पर कवि का असाधारण अधिकार है। सर्वत्र उसने रसानुसारिणी भाषा का व्यवहार किया है। समृद्ध भाषा के प्रवाह में बह जाने के लिए उसने अपने को विवश नहीं पाया।

'गाथा' की सभी कहानियाँ सामाजिक समस्यामूलक हैं। यह बात समर्थित हो चुकी है कि एक सौ उपदेश या नीति-वचन जहाँ सामाजिक दूषणों के निराकरण में समर्थ नहीं होते वहाँ एक तीव्र और मार्मिक व्यंग्य सफलता लाभ करता है। 'गाथा' में प्रसंगानुकूल जैसे तीखे व्यंग्यों की अवतारणा की गई है, मैंने हिन्दी में अभी वैसे समर्थ व्यंग्यकारों के दर्शन नहीं किये। इसी तरह कवि ने जहाँ चित्रण (descriptions) दिए हैं, वहाँ वर्णनीय विषय जैसे मूर्त्त हो उठा है।

'हरिहरक्षेत्र का मेला' इस पुस्तक की एक अद्वितीय रचना है। ओ० टी० रेलवे के सोनपुर और हाजीपुर रेलवे स्टेशनों के बीच गंगा और गंडक के संगम पर प्रति वर्ष कार्त्तिक मास में यह मेला लगता है। यह भारतवर्ष का सबसे बड़ा मेला है और संसार के सबसे बड़े मेलों में इसका तीसरा नम्बर पड़ता है। इस मेले का एक वर्णन देखिए —

"हाथी थे चिग्घाड़ रहे, हिनहिना रहे थे घोड़े,
बब्बर, सिंह दहाड़ रहे थे, गरज रहे थे शेर,
रेंक रहे थे गधे सधे सीधे सब के ढब घेर,

किट-किट करते बन्दर, फोंफियाते भालू के जोड़े,
सर्कस कहीं, कहीं बन्दर-भालू के होते नाच,
रहा एक कपि 'राधेश्यामी रामायण' था बाँच,

सुन-सुन बीन भैंस पगुराए, भड़कें बैल 'निगोड़े',
हाथी थे चिग्घाड़ रहे, हिनहिना रहे थे घोड़े।"

व्यंग्यों के दो नमूने भी लगे हाथों पेश करता चलूँ—

"रूप-हाट की बाट इधर, हर शख्स खोजता हूर
सिर के बल चल रहा, तल रहा गर्म-गर्म अरमान,
खुदा खा रहा खौफ, ताकता उसका मुंह मेहमान !
हो जाते जज्बात आप ही आप मगर काफूर—
जब-जब दिख जाती करीब से जन्नत की मायूसी,
ताजमहल में रखी हुई ज्यों जौ-गेहूँ की भूसी !
कंडे पाथ नूर के गड्ढे दिए किसी ने पूर !
यह हुजूम से घिरा इश्क का हुस्न-परस्त हुजूर !"

—हरिहरक्षत्र का मेला

"मानव गिनती की हद पाए, इतने पशु थे आए !
इतने लोग कि क्या गुलाम नर-मादों की भी मस्ती !
इतने पैसे, जाय खरीदी मानवता भी सस्ती !
× × ×
जहाँ आदमी सस्ता, मँहगा बैल न क्यों हो जाये ?"

—हरिहरक्षेत्र का मेला

"चीर कलेजा कलाकार दिखलाता है, —यह देख,
जग कहता, छीः, मांस-पिंड पर खिंची रुधिर की रेख !"

—हरिहर क्षेत्र का मेला

ऐसे दो-चार नहीं, सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहाँ कवि ने बहुत सहज-स्वाभाविक ढंग से बड़े मार्मिक व्यंग्य किए हैं। एक आलोचना देखिए—

"श्रेष्ठ किताबें हिन्दी लिट्रेचर की कितनी आईं !
गुलबकावली से ले तोता-मैना के सब भाग
सिंहासनबत्तीसी, प्रेमछतीसी, शीशी-कार्क।
और चन्द्रकान्ता, —बाइबिल की बच्ची, मनु की ताई !
कच्चे बंगाली कहते, —रवि-सा कवि हुआ न पहले,
मैं कहता, पहले वे राधेश्यामी सीरिज पढ़ लें !
नमक-मिली मुरियाँ वहाँ, क्या यहाँ न नानखटाई !
'शॉ' हाँकेंगे डींग, दिखा जब तक न 'भिखारी नाई' !"

इस आलोचना का आप पूरा आनन्द न पाएँगे, अगर 'भिखारी नाई' को नहीं जानते। 'भिखारी' जातितः सचमुच नाई और एक ग्रामीण कवि है, जिसने ग्रामीण ढंग से ही स्थापित अपनी नाटक-मंडली से बड़ी ख्याति और बड़ा धन

अर्जित किया है। अब तो न सिर्फ देहातों में, बल्कि पटना-कलकत्ता जैसे शहरों में भी जब 'भिखरिया' का नाच होता है, तो दर्शकों की अपरिमित भीड़ में मार-पीट तक हो जाती है और भीड़ को संयत रखने के लिए पुलिस का प्रबन्ध करना पड़ता है।

जो हो, मुझे प्रसन्नता है कि मैं साहित्य-प्रेमियों के समक्ष एक नई और अच्छी वस्तु प्रस्तुत कर रहा हूं।

आरती-मन्दिर
पटना सिटी
१-१-'४४

विनीत—
**प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'**

# अनुक्रम


- दो आँखें : २५
- आँधी : ४१
- सुहागरात : ५७
- हरिहर क्षेत्र का मेला : ७३
- कलियुग के कृष्ण : ८६
- कल्कि-अवतार : १०५
- क्लाइमेक्स : १२१

# दो आँखें

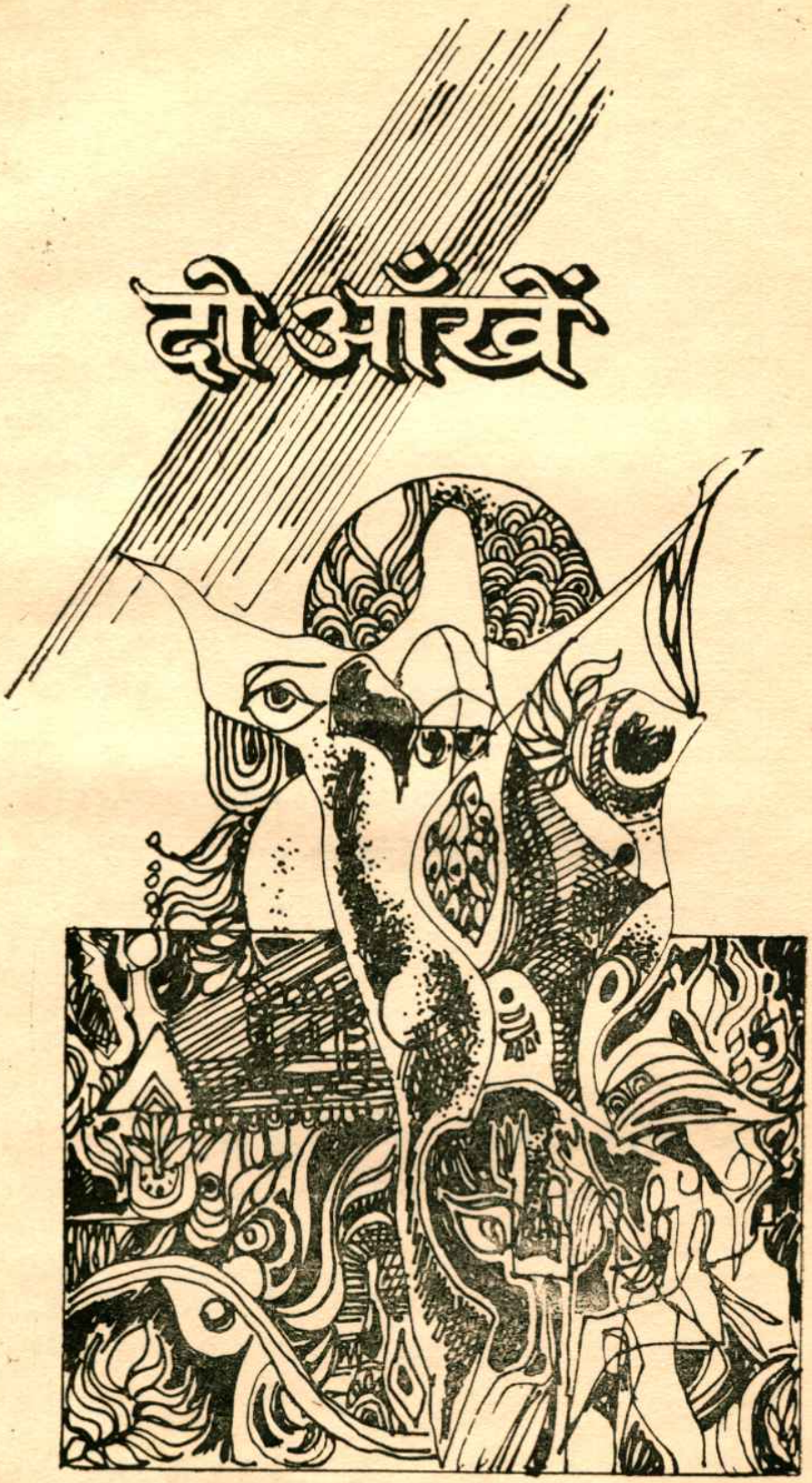

१

शाम ढल रही थी, करना था चाह रहा विश्राम;
साहस होता था न किन्तु तुझसे खुलकर कहने का,
दीख रहा था स्थान न बाहर पथिकों के रहने का,
तब तक तू खुद बोल उठी—"अब जाने का क्या काम ?
"आज साग-सत्तू मेरे ही घर का खाकर देखें,
"डाला है पुआल कोने में, अन्दर आकर देखें,
कितनी खुशी, सुदामा के घर आज रहें घनश्याम !"
साँझ हो गई थी, करना था चाह रहा विश्राम।

२

तेरी माँ हो रही चकित थी सुन-सुन तेरी बात।
मैं चुप था आनन्द ले रहा तेरे भोलेपन का,
मुँह से करना प्रकट कठिन था भाव संकुचित मन का,
जब-तब कर देती थी तू मुझ पर सस्मित दृक्पात;
मेरा बिस्तर उठा, दिया तूने पुआल पर डाल,
मैंने देखा, तेरी स्वस्थ भुजाएँ नहीं मृणाल,
तेरे हाथ हाथ ही हैं, वे नहीं सजल जलजात !
तेरी माँ होती आश्चर्यित सुन-सुन तेरी बात।

३

धीरे-धीरे देखी तूने मेरी 'डलिया' खोल;
कुछ अनार, कुछ सेब-संतरे उसमें पड़े हुए थे,
जिन पर छिन भर तेरे चंचल लोचन गड़े हुए थे,
मेरे लज्जा-जड़ित हृदय से निकला एक न बोल;
माँ-बेटी के लिए दिए दो फल मैंने चुपचाप,
फिर भी लगा कि जैसे करता होऊँ कोई पाप,
'एक अनार और' कह विहँसे तेरे अधर, कपोल;
मेरे लज्जा-जड़ित हृदय से निकला एक न बोल!

४

लौट गई तू माँ को देने मेरा नव-उपहार;
वह प्रसन्न हो गई, दिखा मुख पर वात्सल्य-प्रकाश,
तुझसे बोली—'लालटेन रख आओ उनके पास,
क्यों तो उन पर अपने लड़के-जैसा होता प्यार!'
थोड़ी देर बाद खुद आकर मुझसे कुछ-कुछ बोली,
उसकी बोली लगी मुझे भी माखन-मिश्री-घोली,
मैं छुटपन से मातृहीन, जाना माँ का न दुलार,
तेरी माँ ने किया सफल मेरा फल का उपहार!

५

इसी भाँति होने को आई लगभग आधी रात;
देख रहा था पड़ा-पड़ा मैं अपना बिगड़ा हाल,
वह सुनसान फूस का घर, वह बिखरे हुए पुआल;
दिल में चैन न, नींद न दृग में, मुँह में एक न बात!
आती प्रभु की याद, भला मैं कहाँ पड़ा एकाकी—
पूर्ण कर रहा उनकी इच्छाएँ! अब कितनी बाकी?
सुनता, जो मर्मर करते थे पथ के तरु के पात,
ठिठुर ठंड से काँप रही थी थर-थर आधी रात।

६

सहसा तू आ खड़ी हुई मेरे बिस्तर के पास;
लालटेन की हुई रोशनी मद्धिम अपने आप,
मेरी आत्म-चिंतना नभ में लीन हुई बन भाप!
समझ न पाया, कहूँ तुझे क्या, आया अश्रु न हास!
बहुत देर पर कहा बैठने, अति साहस संचित कर,
तू झट बैठ गई मुझसे सट, अपने को वंचित कर,
असमंजस में प्राण: दूर भगवान, पास भुजपाश!
सहसा तू जब खड़ी हुई मेरे बिस्तर के पास!!

७

प्रातःकाल उठा झटपट चल देने को हो तत्पर;
खर्राटे भरती थी तू तब सोई जननी-अंक,
मुझे देख थी नहीं रही, जिससे मैं था निःशंक,
फिर भी मेरी आँखें आती थीं रह-रहकर भर-भर!
सोच न पाता था मैं अपने उन्मन मन का भेद,
मेरी थी तू कौन? बिछड़ते होता था क्यों खेद?
तू किसकी शृंगार-हार? मैं किसके धन का तस्कर?
प्रातःकाल उठा मैं चलने को हो तत्क्षण तत्पर।

८

'कहाँ चले?'—तेरी माँ की आई धीमी आवाज;
क्या उत्तर दूँ, बात बनाने में भी मैं न प्रवीण,
लगा सोचने, इसने क्यों यों पूछा होकर दीन?
मैं हूँ पथिक, मुझे जाना ही करने अपना काज!
निश्चय सब दिन याद रहेगी मुझे आज की रात,
मैं न भूल सकता आजीवन प्रेम-प्रीत की बात,
फिर भी मुझे चला जाना ही होगा अब जब आज,
'कहाँ चले?' तेरी माँ की आई कैसी आवाज!

९

लगा सोचने, तेरी माँ ने जान लिया क्या राज?
तू जो आधी रात के समय चुपके से आई थी,
और, हाय! क्या इसीलिए अब लेटी शरमाई थी!
लेकिन मैंने तुझे बुलाया था कब तजकर लाज!
मुझे जरूरत क्या थी तेरी? तू मेरी थी कौन?
मुँह ढाँके मैं पड़ा हुआ था बरबस साधे मौन,
तू सहसा आई माँ के सोने का कर अन्दाज!
कौन कहे, शायद उसने ही जान लिया यह राज!

१०

मैंने किया नहीं था कोई भी असभ्य व्यवहार!
खड़ी हुई को कहा बैठने, था यह शिष्टाचार,
तेरे सरल हृदय में भी देखा था नहीं विकार,
मेरे उर पर तूने फैलाया मृदु कुंतल-भार!
लगी गुदगुदी प्राणों को, मैंने समझा यह प्यार!
रखा अंक में मुख-मयंक, देखा क्या सुषमा-सार!
था उस अलस, मदिर स्मित पर विस्मित, विस्मृत शत बार,
मैंने प्रकट न किया तनिक कोई असभ्य व्यवहार।

११

एकाएक उठी फिर तू सूनी कर मेरी गोद;
मैंने सोचा, "समझ गई जल्दी ही अपनी भूल,
"जागा तेरे भीतर का नारीत्व चुभोता शूल,
"तूने समझ लिया, सनेह का अर्थ न व्यर्थ विनोद!
"प्रथम पलक पड़ते ही पड़ते जो हो जाता मोह,
"अंग-संग के लिए सूझता अग-जग से विद्रोह,
"वह विनाशकारिणी भावना, फूल बिना आमोद!
"तूने समझ लिया, सनेह का अर्थ न व्यर्थ विनोद!!"

१२

पूछा, "क्या फिर आएगी बीतते-बीतते रात?"
तनिक तुनककर 'नहीं' कहा तूने तब चलते-चलत,
मैंने देखा, दीप बुझ गया जैसे जलते-जलते!
पड़ा-पड़ा मैं रहा सोचता कितनी-कितनी बात—
"यह बालिका अजान, अभी पहली-पहली पहचान!
"पल भर उच्छल प्यार, दूसरे पल अगाध अभिमान!
"गई मर्म पर कर कैसा निष्ठुर-निर्मम आघात!
"पूछा जब, फिर आएगी बीतते-बीतते रात!"

१३

मुक्ति की न की कामना कभी मोह से न विद्रोह,
पुण्य का न नैपुण्य प्राप्त, औ' पाप का न सन्ताप,
सोचा—जीवन औ' चरित्र बनते हैं अपने आप?
मिला नहीं सकता कोई, जिससे हो बदा विछोह?
और, बिछड़ना कठिन, बदा यदि मिलना बनकर मित्र?
प्राण किसी के हाथ, हाय! हम सब क्या केवल चित्र?
गीत गगन में, स्वर का हो आरोह या कि अवरोह?
मुक्ति की न की कामना कभी मोह से न विद्रोह।

१४

खुलकर तेरी माँ से मैंने कहा,—"न जाऊँगा अब,
टोक दिया तूने, फिर तेरी बेटी भी है सोई,
सोचेगी, होगा न आदमी ऐसा जग में कोई,
इतने आदर से रक्खा था, भागा चुपके-से तब!"
कौतुक जोर मारता था, होनेवाला क्या आगे,
चाह रहा था मैं, अच्छा हो, किसी तरह तू जागे,
दिल कहता था, आज भर ठहर, फिर मिलना होगा कब!
खुलकर तेरी माँ से मैंने कहा, न जाऊँगा अब।

१५

लाल मुँह किए निकला सूरज, काँव-काँव कर काग;
उठी ससंभ्रम तू बुहारने आँगन, घर-दूकान,
तेरी माँ बाजार चली लाने कोई सामान,
मैं अपनी डफली में अपना छेड़ रहा था राग;
तुझे हिदायत दो उसने,—"करना इनका सम्मान,
लौट रही मैं अभी, मुझे इनका ही केवल ध्यान,
देख, कहीं तुझसे न रूठकर ये फिर जाएँ भाग!"
लाल मुँह किए निकला सूरज, काँव-काँव कर काग।

१६

उसकी शिक्षा से समझा, निशि का रहस्य अज्ञात,
हुआ तनिक निश्चिन्त हृदय, वह चली गई जब हाट,
लगा जोहने ज्यों प्रभात नव-निशागमन की बाट!
देख प्रथम एकान्त, शान्त तेरा मुखड़ा, श्लथ गात,
मन्द मुस्कुराकर पूछा, "क्यों मुझसे है नाराज?
जानूँ भी तो, तेरे इस गुस्से का क्या है राज?"
सुनकर तू झट लिपट गई, बोली न एक भी बात,
देखा, वह एकान्त, शान्त तेरा मुखड़ा, श्लथ गात!

१७

सिहर गए सब अंग, भर गए दृग, जुड़ा गए प्राण,
प्रथम दृष्टि की प्रीत पढ़ी थी, देखी पहली बार!
चम रही थी वकुल-मुकुल-मुख मानो मलय बयार!
तू मुझमे मिल कहती थी ज्यों—अब न रहे अनजान!
अपने हाथों से छुटकर पकड़ा ज्यों मेरा हाथ!
ऊब-डूबकर एकाकीपन में, चाहा ज्यों साथ!
तेरा भाव बना मेरे होठों को मृदु मुसकान,
सिहर गए सब अंग, भर गए दृग, जुड़ा गए प्राण!

१८

टुक साहस बटोर पूछा मैंने,—"चंचल चितचोर!
एक बात बतलाएगी, क्यों भागी पिछली रात?
क्या अपराध हुआ, जो मैंने पाया वह आघात?
चारु चन्द्र को देख रहा था स्थिर-दृग-कोर चकोर!
आई निधि सहेजता था चिथड़ों में कोई रंक!
खिला रहा था उज्ज्वल शतदल मलिन हृदय पर पंक!
कौन पाप था; बता, करूँ मैं प्रायश्चित्त कठोर?
यदि शशि-सुषमा देख रहा था स्थिर-दृग-कोर चकोर।"

१९

तू हँसते-हँसते बोली,—"अम्मा जो जाती जाग!
वह फिर पहला ही कसूर था, उसको कर दो माफ,
जाओ, उस घर में बैठो, बर्तन करने हैं साफ,
खाना तुरत पकाना है, जाना है लाने आग,
सौदा लेने आएँगे पल भर में कितने लोग,
दौड़-दौड़कर दूँगी सबको, यही भाग का भोग!
जो सब काम न करूँ, गर्म कर कलछी माँ दे दाग!
खाना तुरत पकाना है, जाती हूँ लाने आग।

२०

"देखो, पैबन्दों से भरी हुई है मेरी साड़ी,
यह अँगिया नानी ने दी थी, कितनी हुई पुरानी!
अभी जा रही गागर भरने, होगी पानी-पानी!
जो पैसे मिलते, उनसे माँ पीती दारू-ताड़ी!
मेरे घरवाले भरती हो गए लड़ाई में हैं,
बस, अब तो सारे मनसूबे पड़े खटाई में हैं,
अच्छा, तुम जाओ, बैठो, मुझको धोने दो हाँड़ी,
देख रहे क्या, पैबन्दों से भरी हुई है साड़ी!'"

२१

मैंने छोड़ दिया, देखा, तू हुई काम में गर्क,
मन न लगा, बाजार की तरफ निकला दिल बहलाने,
इधर उधर भटका, न कहीं अटका, थे नहीं बहाने,
लौटा, जब तमतमा रहा था मध्य-गगन में अर्क,
खाते थे दूकान में कई ग्राहक माँ थी तत्पर,
भीतर घर में घुसा तुरत मैं देख न तुझको बाहर,
मेरे ठाट-बाट पर कानाफूसी, तर्क-वितर्क!
परेशान ग्राहक, ऊपर से शान दिखाता अर्क।

२२

मार गया पर काठ, पहुँच आँगन में जो कुछ देखा;
तू नंगी थी नहा रही, मुझ पर पड़ते ही दृष्टि—
पड़े सौ घड़े पानी के! ज्यों बची न सूखी सृष्टि!
वह तेरी तसवीर सिकुड़कर बनी एक ही रेखा!!
क्षय हो कविता की! थो तेरी भरी कनक की गागर!
फुफकारें वे सलिल-बिन्दु क्या, फेन उगलते फनधर!
बन्द नहीं, हों अन्ध नयन ले तेरा सुषमा-लेखा!
वह तेरी तसवीर सिकुड़कर बनी एक थी रेखा!!

२३

आईं याद ग्वालिनें मतवालो वृन्दावनवालो,
नहा रही थीं कज्जल-जल यमुना में गोरी-गोरी,
इसी भाँति जो नंगी-नंगी, बेसुध, भोरी-भोरी!
मन ने कहा, बनूँ मोहन, पर कहाँ नीप की डाली!
देखा, हृदय चीरनेवाला चीर वही था हाय,
पैबन्दों से भरा, धूल पर पड़ा, विवश, निरुपाय,
उजड़ा उपवन, सूखी यमुना, बन न सका वनमालो,
आईं याद ग्वालिनें मतवाली वृन्दावनवाली!

२४

तूने की प्रार्थना कि मैं बैठूँ इस क्षण उस घर में;
किन्तु वासना कहती थी—"देखो यह नंगा नाच,
तुमने कांचन देखा होगा, पर न कीमती काँच !"
हाय ! द्वन्द्व-सम्बन्ध, मची हलचल-सी अन्तःस्तर में—
"ऐसा संयम-हीन हृदय ! इतनी भी कलुषित बुद्धि !"
"यह साँचे का ढला रूप ! यह विधि की कला-विशुद्धि!"
"धन्य नग्न सौन्दर्य !" "धन्य संगीत दैन्य के स्वर में !"
"धन्य द्वन्द्व-संबंध !" मची हलचल-सी अन्तःस्तर में !

२५

देखा अवनी से अम्बर तक दीप्त दिगम्बर अङ्ग,
सुलग उठी वासना कि जो छल्लों में रही धुँआती,
किस रिस से बुझ छार हुई फिर ? वह किसकी रँगराती ?
मिल ले रति से विरति, प्राप्त कैसा निःसङ्ग प्रसङ्ग !
एक निभृत भावना भरे मेरे उर में थी सोई,
कटु यथार्थ को परख रही आदर्श कल्पना कोई !
सह सकती थी जो न सहज मेरा-तेरा यह संग,
उसे याद कर काँपे मेरे विकल अंग-प्रत्यंग !

२६

चला गया घर के अंदर, जल्दी-जल्दी चुपचाप,
थोड़ी देर बाद तू लेकर थाली हँसती आई,
देख उदास सहास बैठते पास सिहर सकुचाई !
पाप हो न हो, किंतु मुझे था हुआ बहुत संताप,
मैं न हँस सका खुलकर, खाना खाया जैसे-तैसे,
तू ज्यों पढ़ती रही, भाव थे आते कैसे-कैसे !
तेरी सुधा-धार बन जाती मुझ पर पड़कर भाप,
पाप हो न हो, किंतु मुझे था हुआ बहुत संताप !

२७

साँझ हुई, न हुई, रजनी आई, आई अथवा न,
कोई चिन्ता नहीं, रहा मैं निद्रा-मुद्रित-लोचन,
उसी दिवस था समझा, निद्रा कितनी सोच-विमोचन!
तू ने ही आकृष्ट किया आ सहसा मेरा ध्यान,
उठा, गया कुछ दूर घूमने, शिशिर-समीरण मस्त—
लगी बदन में, होते थे रवि पश्चिम गिरि पर अस्त,
चुभे हृदय में रक्त-वर्ण उनके कर के कुछ बाण
सांध्य-समीरण ने खींचा फिर निशागमन का ध्यान!

२८

सोचा, किसी तरह बीते यह रात, सवेरे भागूँ,
मेरे अंतर में छिड़ जाता महा विषम विद्रोह,
मैं शंकर हो नहीं सकूँगा, मुझे सताता मोह,
कहता हृदय, मिलूँ खुल; कहती बुद्धि, अलविदा माँगूँ;
याद करूँगा तुझे सदा, बरबाद न पर अपने को,
खोजूँ यदि मिल जाय सत्य, खोऊँ न मगर सपने को!
सोई ही रह आज रात भर तू, केवल मैं जागूँ,
कहता हृदय, मिलूँ खुल; कहती बुद्धि, अलविदा मागूँ!

२९

नौ बजते-बजते मैं लौटा घूम नदी के तट से;
तू सोई, तेरी माँ सोई, केवल द्वार खुला था,
चला गया मैं अंदर, अंतर इस छन स्वच्छ, धुला था,
देखा, सकता देख हृदय को जितने अधिक निकट से,
चाहा, मैं भी सो जाऊँ, तब तक तेरी माँ आई,
बोली, "वह सो गई, थकी थी, आज न रोटी खाई,
बीती बहुत रात, खा लें," कह थाली लाई झट से,
देखा, सकता देख हृदय को जितने अधिक निकट से!

३०

सोचा, अच्छा हुआ, सो गई, पूरी मेरी साध,
यही चाहता था मैं अब, चलते - चलते भी न मिलूँ,
पत्थर बन जाऊँ, झंझा के झोंके से भी न हिलूँ,
ऊपर लहरें उठें, मिटें, मैं बनूँ समुद्र अगाध!
इस दुनिया में मिलने और बिछुड़ने का ऐसा क्रम—
चलता ही रहता, निरर्थ है उसे रोकने का श्रम,
मैं तट को देखूँ न, चलूँ बहता उन्मुक्त; अबाध,
ऊपर लहरें उठें, मिटें, मैं बनूँ समुद्र अगाध!

३१

आधी रात हो चली, आँखें लगीं तनिक अलसाने,
चिंता हुई कि जड़ निद्रा आ जाय न कहीं सुबह तक,
या तू ही आ जाय कहीं उठकर, करता दिल धक-धक,
औ' तेरी माँ जली-कटी मुझको लग जाय सुनाने,—
क्या होगा तब? यही सोचता रहा बदलता करवट,
इतने ही में मिली किसी के पैरों-की-सी आहट,
नींद हराम हुई, पड़ा रहा ज्यों - त्यों लंबी ताने,
डर था, तेरी माँ जली-कटी कहीं न लगे सुनाने!

३२

औंधे मुँह आकाश गिरे, यह रसा रसातल जाए!
गगनस्पर्शी शीश झुका ले तुहिन - शरीर हिमालय!
ढक ले पुनः विंध्य रवि-शशि को हो जाए सब तम-मय;
दावानल नागरिक सभ्यता में सहसा लग जाए!
मानवता का अहंकार, हुंकार जले धू - धू कर!
माँ थी सिखा रही बिटिया का फटा वस्त्र छू-छू कर,
—"जा, सो जा उनके सँग, उनका हृदय न दुखने पाए,
ला देंगे साड़ी, तेरा तन किसी तरह ढँक जाए!"

३३

'किसी तरह ढँक जाए! प्रतिध्वनि हुई अशब्द गगन में!
'किसी तरह ढँक जाए!' आँखें झपकीं, खुलीं न मेरी,
'किसी तरह ढँक जाए!' भहरी धूल-राख की ढेरी!
'किसी तरह ढँक जाए' कह बह गई पवन निर्जन में,
'किसी तरह ढँक जाए!' धिक्-धिक्! यह भारत की माता?
'किसी तरह ढँक जाए!' जय हे भारत-भाग्य-विधाता!!
'किसी तरह ढँक जाए!' घुमड़ी काली घटा न मन में!
'किसी तरह ढँक जाए' कह बह गई पवन उपवन में!

३४

तू अनजान की तरह माँ से बोली, "हैं वे सोए;
कभी की नहीं देखा-देखी; कभी की न पहचान;
सोचेंगे, ये माँ-बेटी औरत हैं या हैवान!
उन्हें देखने पर लगता, वे सरल, दूध के धोए!"
तेरी माँ बोली,—"जा, सो जा, तू फिजूल शरमाती,
पुरुष नहीं, लख नार पराई, जिसकी तने न छाती!"
सुन-सुन उसकी बात प्राण मेरे ज्यों खोए-खोए,
आई तू सोचते-सोचते वे हैं बेसुध सोए!

३५

आज बहुत शरमाती आती थी तू मेरे पास;
कल क्या थी! हा, आज हो गई थी कितनी परिवर्त्तित!
कल थी स्वयं उच्छ्वसित, पुतली आज और से नर्त्तित!
कल जलता था, आज हो गया शीताङ्गार हुताश!
आज पैर की तरफ सिकुड़ बैठी तू कर सिर नीचे,
मुझे जगाया चरणाङ्गुलियाँ छू, मैं था दृग मीचे,
उठा तनिक अलसाया-सा ताकता दिशा-आकाश,
घृत पड़ने पर भी न जल सका आज उदास हुताश!

३६

पास पर्स में जो था, तेरे करतल पर रख बोला—
"साड़ी, अँगिया या जो दिल हो, मँगवा लेना प्रात,
मुझे अभी जाना होगा बीतते-बीतते रात!"
छोड़ दिया सामान वहीं सब, साथ रहा बस चोला,
माँ की बात याद कर, 'हँसकर', तुझे लगाया अंक,
'रानी' कह न सका, माँ कहती तुझे भिखारिन, रंक,
वज्र-नोक से है अंकित तू, मैंने हृदय टटोला,
माँ को सब सामान, प्राण! तुझको दे पाता चोला!

•

# आँधी

१

बहुत - बहुत था शान्त साँझ का वातावरण, गभीर;
कहते थे सब लोग,—'आज निश्चय आँधी आएगी !'
किन्तु जानता कौन था भला, वह शरमा जाएगी—
बहुतों को इस भाँति देख स्वागत-हित विकल, अधीर;
धूलि-धूसरित, मलिन-मलिन, वह कुत्सित, निपट कुरूप,
देह-भुजा का क्या कहना, हो किमाकार ज्यों स्तूप !—
सब हँस देंगे, दिखा सकेगी वह न कलेजा चीर !
स्तब्ध, दग्ध थी सन्ध्या, वातावरण शान्त, गम्भीर।

२

शिद्दत की गर्मी, मैं घर के बाहर डाले खाट—
पड़ा हुआ था, पलक-पाँवड़े बिछा, हृदय अकुलाता,—
निंदिया रानी हटतीं पीछे, जब मैं पास बुलाता,
टाँगें फैलाए था, जोड़े हाथ, अजब वह ठाट !
पहुँचे कुछ 'मैरिस कालिज' के सिद्ध गायनाचार्य,
जो बोलें वह मीड़-मूर्च्छना लिए, राग अनिवार्य,
'मशक-समान-रूप !' मैं बोला, 'अर्पित तन, लें काट।'
टाँगें फैला दीं, कर जोड़े, पिछड़े 'शिवि सम्राट्' !

३

रात पहर-भर बीत गई यों, कैसा अमा-समा था!
हाथ हाथ को दिख न रहा था, पर दम घुटते देखा,
काली रजनी में यों परछाईं को छुटते देखा,
ज्योति लुट चुकी थी भीतर, बाहर तम-तोम जमा था!
इस प्रशान्त घन अन्धकार में कुत्ता भूँका एक,
तिमिर-विहारी किसी शिकारी का शर चूका एक,—
और, लगा वह उसी लक्ष्य पर, यह मन जहाँ रमा था!
रात पहर-भर बीत चुकी थी, कैसा अमा-समा था!

४

ध्यान टूटते ही मैंने सब ओर नजर दौड़ाई,
सुनी किसी के आने की आहट, पैरों की चाप,
लगा सोचने तरह-तरह की बातें अपने आप,
—इस काली रजनी में किसको मिलने की सुध आई?
—इस लम्बाई-चौड़ाई का मेरा परिचित कौन?
ऐसे प्रखर, मुखर प्रश्नों का उत्तर मिलता मौन!
अब तक उस सूरत की मूरत आ समीप मुसकाई;
मैंने बड़े तअज्जुब से सब तरफ नजर दौड़ाई॥

५

और नहीं था कोई, औरत एक करीब खड़ी थी,
मैंने टार्च जलाकर देखा, माथे पर था गट्ठर,
धूल-धूल थे पैर, बगल में दाबे बोरा-बिस्तर,
एक हाथ में, ठीक न कह सकता, क्या चीज पड़ी थी!
मुखड़े पर आषाढ़, दृगों में भरा सावनी पानी,
वक्षःस्थल पर उमड़ी थी भादों की भरी जवानी,
जुड़ा गईं आँखें,—कैसी गर्मी में झड़ी पड़ी थी!
और नहीं था कोई, औरत एक करीब खड़ी थी॥

६

मुझे अवाक् देख वह बोली,—'आँधी मेरा नाम,
एक गरीब मलाहिन हूँ, थो गई हुई ससुराल,
सितला मंया की किरपा, है गाँव हुआ बेहाल,
सास-ससुर सब सरग सिधारे, 'वे' रहते आसाम;
मैं मैया के पास भागकर आई हूँ, इस ठौर,
सात कोस से चली आ रही, बहुत दूर 'बिजनौर'!
यहीं कहीं बिरजू बाबू के घर करती वह काम।
सास-ससुर सब सरग सिधारे, 'वे' रहते आसाम।'

७

'बिरजू बाबू के घर?—तू है कबूतरो की बेटी?
'हाँ मालिक!'—'वह देख, सामने दीख रहा उनका घर!
पहले-पहल यहाँ आई है?' 'हाँ, यह दुख पड़ने पर,—
नैहर में कोई न बचा अब,'—कहकर बात समेटी।
बे-घरबार मनुज का जीवन! तिस पर भी जो नारी!
हे प्रभु! तुमने देखी है कोठे पर उठी अटारी?—
औ' मोरी के पास घास पर रोती औरत लेटी?
'वह बिरजू बाब का घर, ओ कबूतरी को बेटी!'

८

बिरजू बाबू साठ साल के मूँछ-मुड़ान जवान,
जोरू-जाँते की झंझट से मुक्त, कृपण-सिरताज,
आमदनी की सूरत, प्रतिदिन मिला ब्याज का ब्याज,
है अनुचित सम्बन्ध कबुतरी से, कहते शैतान।
(इसकी उम्र, समझता हूँ, होगी लगभग पच्चास,)
लेकिन अभी तलक तगड़ी है, अकड़ी-अकड़ी चलती,
बहुत हुनरवाली है, घर-घर पकड़ी-पकड़ी चलती,
बाबू रोज डाँटते, वह सहती सब, बन्द जबान।
बिरजू बाबू साठ साल के, लाल, लठैत जवान।

९

आँधी चली गई; मैंने सोचा,...आखिर आई तो!
लोगों का कहना सही हुआ, मही हुआ आकाश,
लू की आँधी बदली बनकर बदलीवाली साँस!
जाकर दरवाजे पर चिल्लाई—'बाबू, माई ओ!'
सोई थी शायद कबूतरी, बाबू बाहर आए,
एक अजान जवान छोकरी देख, रहस मुसकाए,
गद्‌गद स्वर से पूछा परिचय, बोली,—'हूँ दाई जो!'
आँधी चली गई, सोचा मैंने,—आखिर आई तो!

१०

तीन-चार दिन बीत गए, आँधी मेरे घर आती,
मेरे एकाकी जीवन पर दया दिखाती, रोती,
मेरे ऊपर घर-आँगन में बरसा जाती मोती,
मैं बतलाता, ब्याह हुआ है मेरा, तब दब जाती।
लेकिन उसका यह सवाल, बीबी रहती नैहर क्यों,
लाजवाब लगता, कहता मैं,—'इसकी तुझे फिकर क्यों?'
बस, सिर नीचा कर लेती, मुँह फेर हेर मुसकाती,
तीन-चार दिन बीत गए, आँधी मेरे घर आती।

११

एक रोज आकर कबूतरी बोली,—आँधी मेरी—
करती बहुत-बहुत तारीफें हर दिन उसके पास।
सोचा मैंने, अच्छा होता यदि करती उपहास,
वह क्यों चिन्तित हो, घर आते मुझे अगर हो देरी?
'औरत का दिल!' कहा किसी ने मन में, मैंने माना,
औरत जैसे शमा, उसी का दिल उसका परवाना,
शमा जल रही है, परवाना लगा रहा है फेरी!
वह क्यों चिन्तित हो, घर आते मुझे अगर हो देरी?

१२

फिर भी मिट्टी का माधो था नहीं हाय तो मैं भी।
कड़ा किया दिल को,—'न बड़ा बन व्यर्थ, अगर तू छोटा,
डरता क्यों है भला आग से? नहीं अगर तू खोटा!'
उलझन सुलझाने का करता कुछ उपाय तो मैं भी!
ऐसा क्या कुछ पास कि जिससे थी वह जुड़ती जाती,
ऐसी कैसी साँस कि जिसमें आँधी उड़ती जाती,
दुनिया के मसलों पर रखता एक राय तो मैं भी।
आँधी जो हो, मिट्टी का माधो न हाय तो मैं भी।

१३

रोज सनीचर था, दुपहर का वक्त, बरसती थी लू,
आँधी सोई थी जमीन पर सटकर बरसाती से,
बिखर गए थे बाल, हट गया था आँचल छाती से,
गर्म हवा गुदगुदा रही थी जैसे मर्मस्थल छू,
बिरजू बाबू खड़े हुए चुपके आ उसके पास,
रुकी अचानक चलकर जल्दी-जल्दी उसकी साँस,
जाने कैसे झट उठ बैठी, रक्त-नयन, बंकिम-भ्रू।
रोज सनीचर था, दुपहर का वक्त, बरसती थी लू।

१४

एक हाथ में नोट पाँच का, एक हाथ में पान—
लिए देख वह बोली—'दादा, लाज भी नहीं आती?
मेरी उमर आपकी पोती की, छिः, मैं हूँ जाती।'
राह रोक बिरजू बाबू बोले—'इतना अभिमान!
कहता कबूतरी को, देती तुझे तुला पर तोल,
तू कैसी उसकी बिटिया है, अरी अनाड़ी, बोल?
चाह रहा तलवार-वार, कैसे सहमूँ लख म्यान?
मेरे ही घर में, मेरे आगे, इतना अभिमान!'

१५

बूढ़े विधि के हाथ न काँपे, रखे उठाकर पत्थर!
उभरे-उभरे भरे-भरे उसके वे पर्व-पयोधर,
जिन्हें छिपाना, राख डालना दहके अंगारों पर,
बिरजू बाबू, अहा! हो गए थे 'कुर्बान' उन्हीं पर।
कुर्बानी कि छुआ उनने, औ' मुँह पर पकी चपाती,
औंधे मुँह वे हुए और आँधी चल दी बल खाती,
भरी हुई थी, बरस पड़ी बाहर आते ही माँ पर।
बूढ़े विधि के हाथ न काँपे, रक्खा उर पर पत्थर।

१६

मैं आफिस से तभी लौटकर, खाकर लेटा ही था;
बोली कबूतरी मुझसे आ—'बेटा, सुना न हाल?
अँधिया रोते-रोते मरना चाह रही इस काल।'
हुआ लाल मुँह मेरा, यों तो क्रोध समेटा ही था!
बहुत फिकर थी कबूतरी को, उसका मान न जाए,
मुझे घोर चिन्ता, पगली आँधी की जान न जाए,
ऐसी प्रकृति, न कभी किसी का कान उमेठा ही था!
प्रतीकार क्या करता, सब दिन क्रोध समेटा ही था!!

१७

मेरे कहने पर आँधी ने खाना-दाना खाया।
दफ्तर का था काम, गया मैं 'गया' कपाल-क्रिया को,
बिरजू बाबू ने शराब पिलवा दी कुपित प्रिया को,
कबूतरी की मदद से किया, जो-जो जी में आया।
अपनी हालत देख सुबह वह फूट-फूटकर रोई,
जब माँ ऐसी, उसकी सुनता ऐसा बचा न कोई,
मैं लौटा, तब कबूतरी ने बहुत दिखाई माया,
भूल गई, आँधी ने मेरे कहने पर था खाया!

१८

माया यही कि आँधी से मैं कभी न बोलूँ-चालूँ,
बिरजू बाबू बहुत मानते हैं उसको, वह बच्ची,—
समझ नहीं पाती क्या होती हँसी - दिल्लगी सच्ची !
इसीलिए उस दिन रोती थी, पर मैं होश सँभालूँ,
उधर भूलकर भी अब मैं देखूँ न, नहीं तो बाबू—
जाने क्या कर बैठें ! गुस्से में होते बेकाबू।
मैंने सब सुन लिया, लगा मुझको कि फोड़ सिर डालूँ—
बिरजू बाबू का, कबूतरी का, तब होश सँभालूँ।

१९

तीन दिनों तक आँधी को बाहर न निकलते देखा।
सारी स्थिति मालूम हुई इस-उसके मुँह से सुनकर,
रहा उँगलियाँ चटका चट-चुट, दिल सँभाल, सिर धुनकर,
औ' कबूतरी के कामों का चुपके लेता लेखा।
चौड़े, काले, चित्र - किनारे की साड़ी झमकाए,
जाने कितनी बार ताड़का इधर - उधर दिख जाए,
'आँधी' बन्द रही घर में, बाहर रजकण की रेखा।
तीन दिनों तक लगातार उसको न निकलते देखा।

२०

ऋजु स्वभाव ही मेरी चुप्पी का न हेतु था केवल,
किन्तु बात थी एक और, वह कह देना आवश्यक,
आँधी रूपवती युवती थी खड्ग-फलक-सी लक्-लक्,
मैं डरता था, लोग कहेंगे, मेरा मन क्यों चंचल ?
दीन - दुखी दुनिया में भरे पड़े हैं हर डग, हर पग,
कण भर किरण मिले जो, देखें वे सब जग-जीवन-मग,
सो सब छोड़ एक तरुणी पर क्यों बरसे करुणा-जल ?
मैं डरता था, लोग कहेंगे, मेरा मन क्यों चंचल ?

२१

छुट्टी हुई मुहर्रम की, था आज न आफिस जाना,
फिर भी, भरी जवानी में करना आराम मना है,
सोचा, मेरे योग्य आज क्या काज-वितान तना है!
इसी समय कुछ शोर-गुल सुना, बुलबुल का न तराना!
बाहर निकला, बिरजू बाबू गरज रहे थे घर में,
अनुचित लगा वहाँ जाना, यों हलचल थी अन्तर में,
शुरू हुआ तब तक कबूतरी का कुछ रोना-गाना।
छुट्टी मिली मुहर्रम की, था आज न आफिस जाना।

२२

मैं बरामदे के नीचे जा लगा घूमने जैसे,
कर्जदार दो बिरजू बाबू के पहुँचे ले ब्याज,
उन्हें देख कुछ ज्यादा उनकी तेज हुई आवाज,
बोले कबूतरी-आँधी से—"निकल रही हो वैसे,
या लगवाऊँ हाथ? देख लो, हैं वे दो-दो कौन?
लगी जोड़ने कर कबूतरी, पर आँधी चुप, मौन—
बाहर आई निकल, विकल हो रहे प्राण थे कैसे!
मैं बरामदे के नीचे जा लगा घूमने जैसे!

२३

बात यह हुई थी कि कुछ दिनों से आँधी की देह—
गर्म रहा करती थी, ऐंठा करते थे सब अंग,
ताँबा-सा था हुआ जा रहा सोना-जैसा रंग,
इतने में बिरजू बाबू का मिला अयाचित स्नेह,
'उसी रात' उसको बुखार हो आया, धर ली खाट,
तीन दिनों तक रही जोहती 'मृत्यु-सखी' की बाट,
पर 'कुलांगना' आ न सकी बिरजू बाबू के गेह!
वह न विवश थी पाने को आँधी-सी, उनका स्नेह!

२४

सखी न आई; किन्तु गधे पर किये सवारी कोई—
साक्षात् देवी पहुँचीं, क्या-क्या हिन्दू - शास्त्र बताता ?
ज्वालामयी नहीं, उनका है नाम शीतला माता !
समा गईं वह अंग - अंग में जब थी आँधी सोई।
यह संक्रामक रोग, बाप रे ! भाग यहाँ से जल्दी,
अगर - मगर की तो पिलवा दूँगा मैं चूना - हल्दी !
—बाबू की ऐसी आज्ञा पा थी कबूतरी रोई।
मौत न आई, गर्दभवाहन देवी आईं कोई।

२५

कर्जदार जब गए, लगी तब कबूतरी घिघियाने,
—"बाबू, मानी बात तुम्हारी, जो थी जलती आग,
सच कहती हूँ, मेरी आँधी बची रही बेदाग,
पहले-पहल तुम्हीं ने उसका धरम·····रामजी जानें !
सो अब तुम्हीं निकाल रहे, जब निकलीं उसके माता !
जिसके लिए करी चोरी, सोई है चोर बताता !
इसी दान के लिए कहा था क्या दामन फैलाने ?"
कर्जदार जब गए, लगी तब कबूतरी घिघियाने।

२६

बिरजू बाबू आगबबूला होकर गरजे,—"चुप रह,
यही काम करते - करते मेरी यह उमर सिराई,
वह है नई नवेली ? हट भी, मुझे सिखाने आई !
उसका खसम अगर घर रहता होता, क्या होता, कह ?
चार - पाँच बच्चों की माँ वह हो चुकती जाने कब।
आँख नचाकर, जीभ दबाकर क्या कहने आती तब ?
बिना इसी के बिगड़ रही थी, ठीक रहेगी अब वह !
गोटी अच्छी होते फिर ले आना, उसका घर यह !"

२७

क्षुधावेश निरर्थ, असम्भव करना सहन हुआ अब।
मेरे प्राण न जाने कैसे हुए, अधीर हुआ मन,
ऐसा आज समाज हमारा! ऐसा कैसा जीवन!
दिलबहलाव के लिए दिलदारों के दीन बने तब?
जो कुछ किया कबूतरी ने, है उसका जिम्मेदार
कौन?—नहीं क्या उसका बेकस जीवन बे-घरबार?
गाँधीजी की कसम, खसम आँधी का दुष्ट न बेढब,
मगर न घर के बाहर जाए, घास-पात खाए तब?

२८

अरी रसिकता, तूने बेकस ही को गले लगाया?
ऐनक की हरियाली से देखा मरु का मैदान?
किसी रूपरानी के शव का सुना सरस आख्यान?
मरघट के पददलित फूल पर अलि बन मन मँड़राया?
भारी किया भिखारी को ठिकरों से झोली भरकर?
प्यार किया हिरनी को चीतेवाली गोली भरकर?
कितनी प्यास बुझाने को, यह इतना अश्रु बहाया?
मरघट के मर्दित प्रसून पर अलि बन मन मँड़राया!

२९

पत्थर से ज्यों घिसी हिना, ज्यों किंशुक-कली खिली हो!
था तमतमा रहा मुखड़ा आँधी का खूनी, लाल,
भरी-भरी आँखें कैसी लगती थीं मदिर, विशाल,
मुझे देख काँपी कि छुरी से छाती ही न छिली हो!
पास कुएँ के, हताश्वास होकर, कुछ नीचे झाँका,
झुकी-झुकी गर्दन, उसाँस ऊँची, भ्रू ऋजु, दृग बाँका—
किए रही कुछ देर कि जैसे आफत नहीं झिली हो!
—पतित हुई हो नहीं, कीच-काई में टुक फिसली हो!

३०

चीख उठा मैं,—'आँधी हो तुम क्या ? ठहरो, रुक जाओ !
इतनी जल्दी तुम्हें उचित है नहीं ऊब मर जाना,
वह जिंदा है, जिसे चाहिए तुरत डूब मर जाना,
लेकिन वह मुर्दा है, उठ न सकेगा, तुम झुक जाओ !
धर्म नहीं मालूम तुम्हें, वह है,—कुछ और जिओ तुम,
प्यास हो न हो, रुधिर-अश्रु के ही दो घूँट पिओ तुम,
खुल खेलो प्रकाश में, तम में अपने घर लुक जाओ !
वह मुर्दा है, उठ न सकेगा, तुम्हीं तनिक झुक जाओ !!'

३१

रूप मात्र तुम नारि ! नहीं हो, पहचानो अपने को।
धर्म 'हृदयवासी' न बिगड़ता, उसका स्थान न बिगड़े,
तुम क्यों खोओ प्राण, तुम्हारा शाश्वत ज्ञान न बिगड़े,
अंग-प्राप्ति यदि हृदय-प्राप्ति, तब कहो सत्य सपने को !
तुम ने अर्पित किया जिसे स्वेच्छा से तन, मन, प्राण,
उससे उनका हो सकता क्या बलपूर्वक आदान ?
शुद्ध स्वर्ण को जाने दो कुन्दन बनने, तपने को,
देह - मात्र तुम नारि ! नहीं हो, पहचानो अपने को।

३२

पाँच दिनों तक रही पड़ी वह मेरे अपने घर में।
मैंने की सेवा - शुश्रूषा, जितनी सम्भव दीखी,
दी पहचान उसे दुनिया की, जितनी अब तक सीखी,
उसमें एक कि चंगी होगी हफ्ते के अन्दर में।
मगर मर गई रात सातवीं आते ही बेचारी,
टुकुर - टुकुर मैं रहा देखता वे आँखें अनियारी—
अंतर बह - बहकर आता था जिनकी लहर - लहर में !
छोड़ आशियाँ उड़ी आसमाँ में बुलबुल पतझर में !!

३३

मरते समय कहा इतना ही,—'यही रहा क्या जीवन ?
मारी - मारी फिरी हाय ! मैं इसी के लिए वन - वन ?
इसी के लिए उस बचपन से बदला था यह यौवन ?
इसीलिए बिरजू बाबू ने गन्दा कर डाला तन ?
इसीलिए समवेदना मिली तुमसे हर पल, हर छन ?
नैहर में सुख से होगी, सोचेंगे 'सासुर' के जन !
सितला मैया से मरती मैं, यहाँ कहेंगे पुरजन !
सबका मत भरमाकर 'इसवर' हँसता है मन ही मन।'

३४

'जीवन-चरित समाप्त हुआ'—आँधी की अन्तिम साँस !
जो वह सुन न सकी, ऐसी क्या बात आज बतलाऊँ,
उसे जिला न सका जो ऐसा मरा राग क्या गाऊँ !
मुझे चाहिए आँधी, मैं सह लूँगा सब उपहास !
'चरित' समाप्त हुआ आँधी का, 'जीवन' अब भी शेष,
उस जीवन की जीवनियों से भरा हमारा देश,
ऐसी कितनी आँधी, आती - जाती बारह मास !
आँधी की 'इति' या कि 'हास' गाँधी-युग का इतिहास ?

३५

उसके मरते ही घर - घर 'सितलाजी' हुईं निमंत्रित।
आखिर आँधी ही आई थी, कितने लाल प्रवाल—
मिले धूल में हरित, भरित, मर्मरित छोड़ तरु-डाल;
प्रायः हर घर से कोई शव निकला करता नित - नित।
तभी बात की बात में हुआ साफ मुहल्ला मेरा,
संध्या होते - होते खग - गण लेते रैन बसेरा,
झायँ - झायँ करता सन्नाटा श्वान - गान से मुखरित,
उसके मरते ही घर - घर थीं सितला मैया जीवित !

३६

कालरात्रि के बाद छिड़ रही पुनः प्रभाती तान !
आसमान फिर भासमान हो रहा नित्य रवि - शशि से,
नित-नित कटता ही जाता दुख मुखर हँसी की असि से,
नए - नए पौदों से भरता ही जाता उद्यान !
छोटे से छोटे में कितने बड़े - बड़े परिवर्तन—
हुए यहीं पर, हैं परन्तु अक्षुण्ण आज तक दो जन,
दाना बिरजू बाबू औ' मैं एक निपट नादान !
झुका विंध्य का सिर, फिर चमके हिमगिरि पर दिनमान !!

# सुहागरात

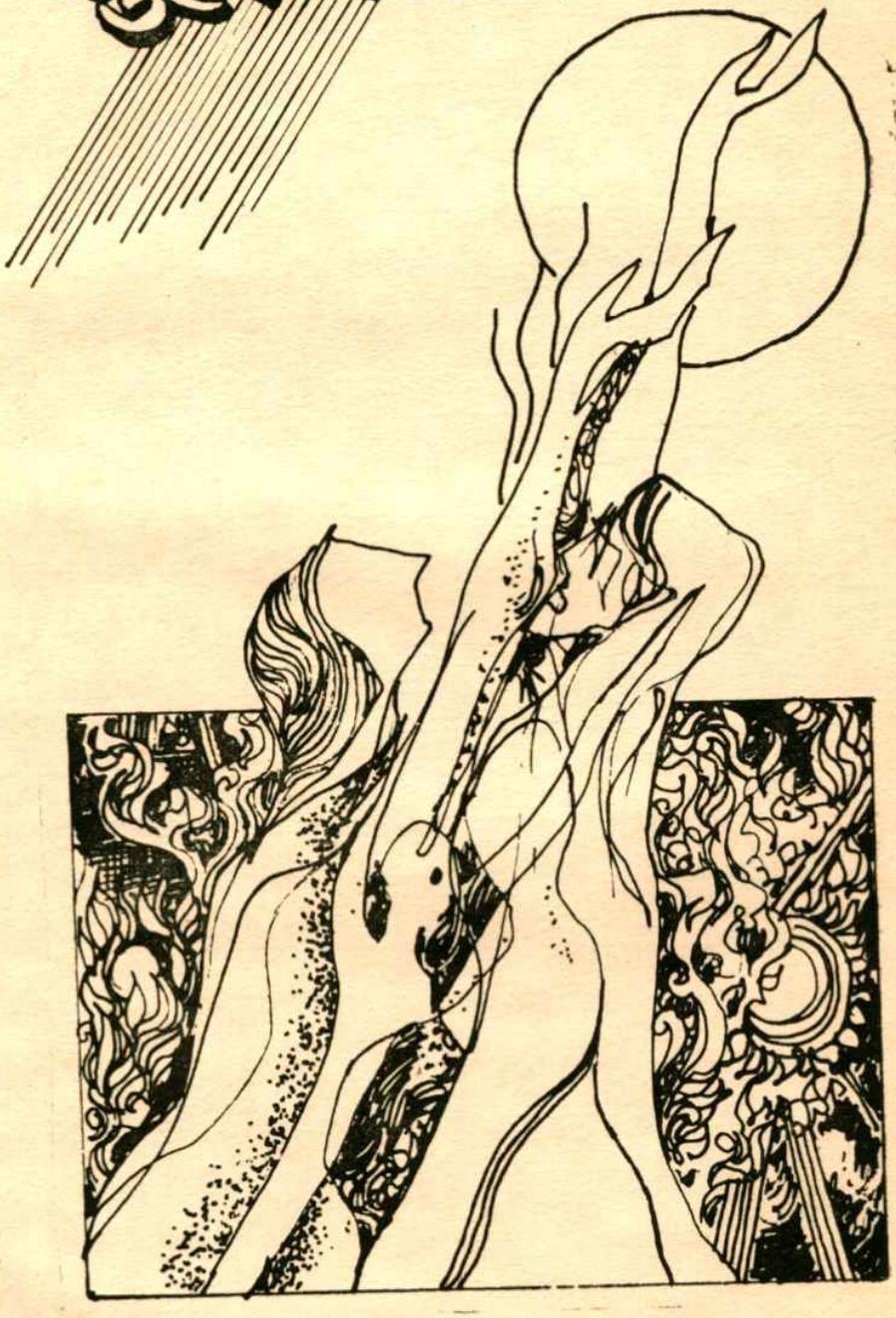

१

"आज अजी ! क्या रात न होगी ? बात न बहुत बनाओ,
पूछ रही मैं कब से, तुम सब तो खिल-खिल हँसती हो !
अरी नागिनो ! दुग्ध-दंत से क्यों मुझको डँसती हो !
मैं कहती हूँ, जाओ, फूल बिछाओ, सेज सजाओ,
मेरा मुख क्या देख रही हो ? देख सको, दिल देखो,
सूने नभ में एक तारिका करती झिलमिल, देखो,
रहने दो मध्याह्न, आह ! तुम राग विहाग सुनाओ,
मैं कहती हूँ, जाओ, फूल बिछाओ, सेज सजाओ।

२

"तुम सब सोच रही हो शायद, मुझे हो गया क्या है ?
होश हवास दुरुस्त, चुस्त मेरे कपड़े; दृढ़ चोटी,
और, ग़ौर से मुझे देख लो, नज़र हुई जो मोटी,
सब कुछ मेरे आस-पास, फिर भला खो गया क्या है ?
मैं तो सोच रही, मेरा यौवन-वन कैसा फूला !
मधु-लोभी भौंरा भटकेगा पग-पग भूला-भूला,
अब कब वह छन आएगा ! यह दिवस सो गया क्या है ?
जल्द-जल्द क्यों नहीं जा रहा ? इसे हो गया क्या है ?

३

"कभी भी न पहले था मेरा हुआ आज-सा हाल,
आर्य अहा, कौमार्य सहज गौरव से गया बिताया,
रहा व्यस्त अध्ययन-मनन में, मन न कभी भरमाया;
प्रथम प्रकंपन, प्रथम व्यग्रता दीख रही इस काल,
एक-एक पल प्रलय लग रहा, निमिष-निमिष युग एक,
इस गायन में 'बोल-तान' ही, कहीं नहीं 'सम', 'टेक' !
सच अनिवार्य विवाह-यज्ञ स्वर्गीय-सुमन-वनमाल !
असह प्रतीक्षा प्रिय पति से मिलने की अब इस काल।

४

'मेरे प्रिय पति, बिंदो बाँदी ! तू ही बता न, कैसे ?
एक साथ गाड़ी चढ़ने में उन्हें लजाते देखा,
फिर डिब्बे में झूम-झूम कर गुन-गुन गाते देखा,
सीधे, शिक्षित युवक न देखे मैंने उनके-जैसे !
गाड़ी में मुझसे बोले ही नहीं एक भी बोल,
सिर्फ तुझी से बातें करते दी मुख-मुद्रा खोल,
मेरे बारे में भी कुछ पूछा ही होगा वैसे ?
तू क्यों शरमाती है बिंदो, मेरे प्रिय पति कैसे ?

५

मैं सोई थी नहीं, छिपा मत मुझसे कुछ भी, छोरो !
ली थी पकड़ कलाई उनने, देती थी जब पान,
तूने मेरी ओर किया इंगित कि गई मैं जान,
तब वे बोले, दीख रही मैं जनम-जनम की भोरी,
उसके बाद उढ़ाया उनने मुझे स्वयं आ 'शाल',
तू हँस पाई भी न, तभी सट काटे तेरे गाल,
किया तनिक सीत्कार, कहा उनने कि 'खूब, तू गोरी !'
मैं सोई थी नहीं, छिपा मत मुझसे कुछ भी छोरी !

६

मेरा बर्थ छोड़ तू बैठी जाकर उनके पास,
उनके सीने से लग उठँगी रही, न फिर कुछ बोली,
प्रेम - प्रभंजन में न तनिक भी हेम - वल्लरी डोली !
उनके मुकुल-कंज-कर थे तव विकच कमल के दास,
फिर कुछ देर हुए तुम दोनों हो थे अंतर्द्धान,
बाथ - रूम का बल्ब जला, थी निपट निराली शान !
मैं चुप लेटी - लेटी लेती रही साँस पर साँस,
दासी रानी बनी, बने राजा दासों के दास !

७

"बिंदो ! तू रोती है ? छिः-छिः, यह भी कोई बात !
मेरे नाते यह तो तेरे योग्य हास - परिहास,
मैं उनसे मिलने को आतुर, तू हो रही उदास ?
देख सही, अब और देर कितनी होने में रात ?
रूप मिला तुझको है ऐसा, निरख न हो संतोष,
क्या मैं रोष करूँ तुझ पर, क्या उन्हें भला दूँ दोष ?
यौवन के ये खेल - तमाशे, ये मीठे आघात,
बिंदो ! तू रोती है ? छिः छिः, यह भी कोई बात।

८

"लेकिन मुझसे छिपा न कुछ, सच-सच बतला सब हाल,
उनने क्या-क्या कहा तुझे, जब तू थी उनके अंक ?
मेरी भी थी भीति उन्हें या थे निर्भय, निःशंक ?
किया तुझे अनुरक्त, किए या मसल गाल ही लाल ?
तेरा उर भी पाया या केवल उरोज असहाय ?
तूने था सर्वस्व दिया या लुटी अगति, निरुपाय ?
बिंदो ! सत्य बता, डरकर न किसी पर कीच उछाल,
तेरा मुँह भी लाल हुआ, जब हुए लाल थे गाल ?"

९

बिंदो बोली, "क्षमा राजलक्ष्मी, मैं ही अपराधी,
वह कहते थे, 'मुझे देख संयम-कल्पना निरर्थ,
मैं वह कविता, जिसमें शब्द नहीं, बस केवल अर्थ,
वह प्यारी उलझन, जो आधी सुलझी, उलझी आधी,
पुरुष-परस मैंने पाया था कब ऐसी वाणी से?
होड़ न की थी चेरी ने अपनी प्यारी रानी से!
बाँधा उनने बाहु-पाश में, मैंने चुप्पी साधी;
सच कहती हूँ, क्षमा राजलक्ष्मी, मैं ही अपराधी।

१०

"कहते थे उनका वश चलता, करते मुझसे ब्याह,
धर्म और ईश्वर हैं झूठे, कुल या वंश नृशंस,
मर्यादाएँ बंधन, उड़ता मुक्त गगन में हंस,
कहते थे, उनका न अंत कर दे वह अंतर्दाह,
वह जीवन भर पछताएँगे, क्यों मानी कुल-रीति,
मरते-मरते भी न मुझे भूलेंगे, ऐसी प्रीति!
कहते थे, है तनिक उन्हें इस ब्याह की न परवाह,
यों इतने गंभीर कि कोई सकता उन्हें न थाह!!

११

"अब तक उनने सात बालिकाओं का पाया प्यार,
बिंदो रही आठवीं, पहले लेकिन कुछ न कहा था;
मैंने खो दी लाज, तभी यह प्रेम-प्रवाह बहा था,
और नहीं तो·····खैर, गई अब तो मैं बाजी हार,
राजकुमारी! मैंने तुमसे एक न बात छिपाई,
कभी की न सोची यह भूल हुई, मैं खुद शरमाई,
डुबा चुकी जब नाव, दिखी तब मुझे हाय! पतवार,
और नहीं तो·····खैर, चुकी अब तो मैं बाजी हार।"

१२

सस्मित-स्वर-निर्झरी झरी—"बिंदो, तेरा अपराध—
सचमुच ही है, क्षमा न मैं करती, यह दोष प्रचंड,
अब तो सखि ! स्वीकार करो मिलनेवाला जो दंड !"
सुनकर सन्न हो गई बिंदो, छलके नयन अगाध,
नीर-नीर हो गए तीर, पिच्छिल पलकों की कोर,
रही चातकी-सी तकती लक्ष्मी जलधर की ओर—
मृषा, तृषा मिट सकी न, पूरी हुई न यह भी साध,
हँसी, बिज्जु कौंधी, रोई, बरसी—तेरा अपराध !"

१३

ननदें फिर-फिर घिर-घिर आईं, किए विविध परिहास,
यों जैसे दम घुटा जा रहा, फटी जा रही छाती
तो भी कुछ-कुछ कहती-सुनती औ' हँसती ही जाती,
अपनी सहज प्रसन्न प्रकृति का करती-सी उपहास।
प्रथम-पदार्पण के दिन सौतें ज्ञात हुईं जब आठ
तब फिर आगे क्या होगा, यदि उमर लिखी हो साठ ?
लक्ष्मी उतने क्षुधा-क्षुब्ध जन का न एक भी ग्रास !
तो भी हँसती, मुदित प्रकृति का करती-सी उपहास।

१४

आग लगे इस रँगे दिवस के इतने बड़े बदन में
अंगारे उड़-उड़कर नभ से जुड़कर बनें सितारे,
कोलाहल हो शांत, श्रांत पंछी निज नीड़ पधारें
वाणी का व्यापार बन्द हो जाए भवन-भवन में;
आज राजलक्ष्मी के मन में मचा हुआ है द्वन्द्व;
उज्ज्वल प्रतिभा, तीव्र दृष्टि होती जाती है मन्द,
परिवर्त्तित हो रहे भाव हैं कितने ही क्षण-क्षण में,
आग-आग है लगी लग रही सारे सौध सदन में।

१५

लक्ष्मी सोच रही, जैसे को तैसा भी सिद्धांत ?
यह ऐसा उत्तर कि साठ घाटों का पी लूँ पानी ?
मुझे न कोई कुछ कह सकता, मैं रानी की नानी !
वैसी स्थिति का नाम उचित है गर्हित या दुर्दांत ?
पुरुष ! तुम्हारा प्यारा पथ तुमको ही मिले सदैव,
नारी भटकेगी, अटकेगी, उसका रक्षक दैव,
लेकिन वह पहले पहुँचेगी, यह नितांत निर्भ्रान्त !
लक्ष्मी सोच रही, जैसे को तैसा भी सिद्धांत ?

१६

लक्ष्मी के थे पिता परम वैष्णव, उनके आदर्श—
रामचन्द्र थे, पूजा-अर्चा ही था नैत्यिक कृत्य,
इतने आचारी कि देखने भर को थे सब भृत्य,
एकमात्र कन्या ही संतति, फिर भी स्वल्प न हर्ष
पत्नी स्वर्ग सिधार गईं, पर किया न पुनर्विवाह,
दान-धर्म में व्यय की जाती थी संपत्ति अथाह,
सरल, सुशील, मधुरभाषी, उनको न गर्व का स्पर्श,
एकमात्र कन्या ही संतति, फिर भी स्वल्प न हर्ष !

१७

सात बाँदियाँ थीं लक्ष्मी-से शैशव से संयुक्त
बिंदो थी सर्वाधिक सुन्दर, सबसे न्यारी, प्यारी,
लक्ष्मी उसके ही आगे रहती थी हारी-हारी,
वह निसर्ग-चंचल, अंचल उड़ता रहता उन्मुक्त,
लक्ष्मी के ही साथ-साथ थीं ललित कलाएँ सीखीं,
वह सदेह संगीत, चित्र-रचना-सहजन्मा दीखी,
सब कहते, केवल बिंदो ही लक्ष्मी के उपयुक्त !
वह निसर्ग-चंचल, अंचल उड़ता रहता उन्मुक्त !

१८

जब यौवन लक्ष्मी का तन भर, मन सूना कर आया,
बिंदो ने ही उसे कहा, 'सखि ! यह शैशव का शेष,
अब तुम फूलो, फलो, चलो अपने बालम के देश,
मैं भी साथ रहूँगी, जैसे रहती बनकर छाया।'
तब लक्ष्मी ने उसे कहा था, तू तो मेरी प्राण,
तुझे छोड़कर मैं जी भी सकती हूँ, क्या नादान ?
मैंने तो तेरी वीणा पर जीवन-गायन गाया।'
बिंदो कहती—'प्राण तुम्हीं, मैं अगर तुम्हारी काया।'

१९

जाति-वंश, मर्यादा औ' फिर जन्म-पत्रिका साथ
सब कुछ देख, समझ, सुन, लक्ष्मी का रचवाया ब्याह
एकमात्र संतति, कहना क्या, था अदम्य उत्साह,
लक्ष्मी का देखा जब नव-सिंदूर-विभूषित माथ,
पिता हर्ष से भरे, अरे ! आँसू चू पड़े छलककर,
सूख गए, लक्ष्मी की वेणी पर पलमात्र झलककर;
बिंदो हँसती, निरख सखी का सूत्र-सुशोभित हाथ,
बहु-मंडन-मंडित अभिनव-सिंदूर-विभूषित माथ।

२०

लक्ष्मी के वर विष्णु नहीं, थे वाम-मार्ग-अनुगामी
बचपन में ही पिता गए सुर-लोक, न शोक रहा कुछ,
रोक-टोक क्या उसे, कि जिसके लाज न लोक रहा कुछ,
परिजन, पुरजन, स्वजन प्रजा थे, वह थे सबके स्वामी।
माता टर-टर करती थीं, बक-झककर चुप होती थीं,
क्रोध अधिक होता तो खाए-पिए बिना सोती थीं;
गाएँ अन्धे सूर कि 'मो सम कौन कुटिल खल कामी ?'
परिजन, पुरजन, स्वजन प्रजा थे, वह जब सबके स्वामी !

२१

जाति, वंश औ' जन्म-पत्रिका इस विवाह के सेतु,
जिस पर चढ़कर यहाँ चली आई लक्ष्मी-सी कन्या,
हा ! अगाध सुरसरित गई समझी उच्छल-जल वन्या,
कितनी लाशों के टीले पर गड़ा जाति का केतु !
लक्ष्मी के हे पूज्य पिताजी ! सफल वंश-अभिमान !
कंस कृष्ण का मामा उसका उचित करें सम्मान,
और जन्म-पत्रिका कि जिसमें राहु, शनैश्चर, केतु,
उसका अर्थ मरण; वह बनती प्राणहरण के हेतु !

२२

अखिल विश्व की बात करें क्या, सम्मुख अपना देश,
होते हैं कितने विवाह इस ठौर जन्म-पत्री से,
राजा चन्द्र मिला करते हैं बहुत न बुध मन्त्री से,
क्यों लक्ष्मी को दिया उसे, जिसमें न मनुजता शेष ?
जामाता जो आज आपके, महापाप के कूप
वहाँ डूब मरने को आती वैसी वधू अनूप
जो दो बच्चे जन चुकती है शैशव में अक्लेश,
जिसके पिता चाहते वेश्या, माता भृत्य-विशेष !

२३

यह कैसा स्वभाव जामाताजी ! विवाह के वक्त
बिन्दो बैठी लक्ष्मी के पीछे ले चामर हाथ;
लगा मचलने, दिल न आपका रहा आपके साथ,
इधर-उधर से बच सच उस पर मारे नेत्र सशक्त,
वेत्र मारते, सह लेती, पर असह हुई वह मार;
बाँदी ने देखा, राजाजी भीख माँगते प्यार !
वह देवी बन गई, देखने लगी भावमय भक्त,
यह कैसा स्वभाव जामाता जी ! विवाह के वक्त ?

२४

चरित आपके-जैसे तो बहुतों के इस धरती पर,
पर न आप-से सब अधीर दिखलाने को अपना उर,
कच्चे गायक गाते निःसारित कर नासा से सुर!
धन्यवाद, जो अनुकम्पा की लक्ष्मी-सदृश सती पर।
"रात हो गई, चलो न बिन्दो! चलो न भाभी, भैया—
बाट जोहते" लक्ष्मी बोली, लेती विहँस बलैयां—
"चली स्वयं मैं, भार शेष रहने दो बिन्दुमती पर
'उन्हें' प्रतीक्षा भी करने दो, बहुत न, सिर्फ घड़ी भर।"

२५

बिन्दुमती रोती थी, लक्ष्मी करती थीं शृङ्गार,
अपने सब आभूषण उसके अंगों में पहनाए,
उसका वेश स्वयं धारण करते लोचन भर आए,
मन बहलाने का था यह अतिशय नवीन संभार!
एक निमिष में सृष्टि हुई परिवर्त्तित थी आमूल
आज सचाई बन बैठी थी बार-बार की भूल!
वे लक्ष्मी के कौन? मौन बिन्दो जिन पर बलिहार!
तोड़-फोड़कर सहज जगत को बसा नया संसार।

२६

बिन्दो बोली—"ऐसा अभिनय और न करने देना,
मैं उनसे क्या बोलूँगी, जिससे न खुले यह भेद,—
और, तुम्हारे लिए उन्हें हो निश्छल, हार्दिक खेद?
मैं लक्ष्मी बन जाती प्रभु हे! आज न डरने देना।
किन्तु सखी, तुम मुझे दे रहीं अति प्रचंड यह दंड,
मेरी ही छाती न फट रही, जो पाषाण अखंड,
आज तुम्हारे डर से जीती, पर कल मरने देना;
मेरी लक्ष्मी, मुझे और यह खेल न करने देना।"

२७

यह सुहाग की रात ! काँपती बिन्दुमती थी थर-थर
यह सुहाग की रात ! हो रहे गीत वाद्य सब ओर
यह सुहाग की रात ! राजलक्ष्मी थीं मत्त, विभोर
यह सुहाग की रात ! हवा बहती थी कैसी हर-हर !
यह सुहाग की रात ! बाँदियाँ सोच रहीं कुछ दिल में
यह सुहाग की रात ! नौकरों की थीं चलतीं चिलमें
यह सुहाग की रात ! कुँवर पीते पैमाने भर-भर
यह सुहाग की रात ! काँपती बिन्दुमती थी थर-थर

२८

लक्ष्मी-रूप-धारिणी बिन्दुमती तो अड़ी खड़ी थी
बिन्दुमती बन लक्ष्मी संग पलंग डटा कर बैठीं
आँख मिला कर; मगर और सब अंग हटा कर बैठीं
बोले कुँवर कि सोऊँ अब, कल खूब न नींद पड़ी थी,
रहा रेल में जगा, मित्रगण रहे यहाँ घेरे ही,
कौन भला हटता, सबने तो डाले थे डेरे ही !
'उनसे कहो बैठने' सुनते जाती बिन्दु गड़ी थी
बोले कुँवर कि सोऊँ अब, कल खूब न नींद पड़ी थी

२९

लेकिन 'बिंदो' उठी नहीं, 'लक्ष्मी' भी साथ न बैठी;
बहुत देर हो गई, कुँवर का मन था अब झुँझलाता,
आँखें लाल हुईं मदिरा से, और न सँभला जाता,
"बहुत हुआ परिहास"—कुँवर बोले—"तुम तो हो ऐंठी!
अब जाओ बाहर, सब सोए, की तुमने ही देरी,
घूम रहा सिर मेरा, है हैरान तबीयत मेरी।"
फिर भी 'बिंदो' उठी नहीं, ज्यों अतल सिंधु में पैठी !
"बहुत हुआ परिहास"--कुँवर बोले-"भागो, क्यों ऐंठो?"

३०

'बिंदो' बोली—"राजा जी, कहते किसको परिहास ?"
खूँ का घूँट गई पी, फिर भी मिटा न वह आघात,
कंपित स्वर से पूछा—"कल की भूल गये सब बात"?
चाँटा एक मिला उत्तर, 'बिंदो' ने खींची साँस
पकड़े गाल गई झट बाहर, 'लक्ष्मी' रही खड़ी ही,
पंथी गया, मील-पाषाणी तब भी रही गड़ी ही !
'बिंदो' सोच रही थी, पूरी लक्ष्मी की सब आस !
मिटे एक ही चाँटे से जीवन-भर के दुख, त्रास !!

३१

"क्यों मारा 'बिंदो' को?"--'लक्ष्मी' मुँह खुलते ही बोली,
"क्या थी बात हुई कल ? कृपया मुझको तो बतलाएँ,
नजर दाल में काला आता है कुछ, अब न लजाएँ,
सोच रही हूँ, आज दिवाली है कि आज है होली !"
लिया लपक कर उसे कुँवर ने बिठला अपनी गोद,
'लक्ष्मी' बेसुध हुई, लगा प्रिय यह आमोद-प्रमोद,
बही दक्षिणी पवन, पुनः मंदार-मल्लिका डोली,
क्यों मारा 'बिंदो' को, मुँह में ही थी मुँह की बोली।

३२

किन्तु दूसरे ही क्षण आई उसे प्रतिज्ञा याद;
अपनी दुर्बलता पहचानी उसने दुखी हृदय से,
वह है महा अधम, समझाया मन को रोष, प्रणय से,
लक्ष्मी का जीवन उसने ही किया हाय, बरबाद !
स्वर्ण पात्र में पिया दुग्ध, नागिन का बढ़ा जहर ही,
सिंधु सिंधु ही रहा, रही पर सब दिन लहर लहर हो !
बिंदो सोच रही, उसका यह कैसा क्रूर प्रमाद !
लक्ष्मी का जीवन उसने ही किया हाय ! बरबाद।

३३

लक्ष्मी सोच रही, यह क्या कुटिया का हाहाकार?—
घास-फूस को छेद व्याप्त हो जाए जो अंबर तक!
सुन-सुन जिसे बंद हो जाए तृण-तरु का मर्मर तक!!
आज राजलक्ष्मी के आँसू भर कर बही बयार!
शीतल, मंद, सुगंध लगेगी जो जग के प्राणों को,
सरस परस से जगा जायगी सोए अरमानों को,
दर-दर दामन फैलाएगा भूखा-प्यासा प्यार!
आज राजलक्ष्मी के आँसू भर कर बही बयार!

३४

बिंदो सोच रही, लक्ष्मी बनना न बहुत आसान!
लक्ष्मी थप्पड़ लगते बाहर तुरत चली जाती है,
बिंदो-जैसी दासी अपने आप छली जाती है,
भोजू तेली भोजराज बनने की करता शान!
लक्ष्मी करती एक आन पर अपने को कुर्बान;
बिंदो करती देह-दान आँखें मिलते नादान!
बक मराल की चाल चला, कौए ने छेड़ी तान!
बिंदो सोच रही, लक्ष्मी बनना न बहुत आसान।

३५

लक्ष्मी सोच रही, कुमार कर रहे बिंदु का चुंबन!
सिहर रहे हैं रोम-रोम उसके, आँखें हैं बंद,
पड़ी गोद में होगी उनकी निरानंद, निष्पंद!
और लगी लक्ष्मी के होने तत्क्षण पुलकन, सिहरन।
फिर सोचा, इस बार पी रहे उसका अधर कुमार!
औ' आदर्श प्रकृति के आगे लगा मानने हार!
कहा प्राण ने,-'देख, चंद्र वह,' कहा ज्ञान ने,—'लाँछन!'
कभी गगन देखा लक्ष्मी ने और कभी सूनापन!!

३६

सोया जाता नहीं, नहीं उससे रोया जाता है!
बिन्दु सोचती, वह यह सब कर रही हाय रे, क्या है?
निर्ममतम 'सच' से वह फिर डर रही हाय रे, क्या है?
लक्ष्मी का गौरव न और उससे ढोया जाता है!
वह भी नारी है, लक्ष्मी ने रक्खी उस पर बाँह,
लक्ष्मी जलती सूर्य-ज्योति, वह भी शीतल, जुड़ छाँह,
लक्ष्मी-जैसा रत्न कहीं यों ही खोया जाता है!
सोया जाता नहीं, नहीं उससे रोया जाता है!!

# हरिहरक्षेत्र का मेला

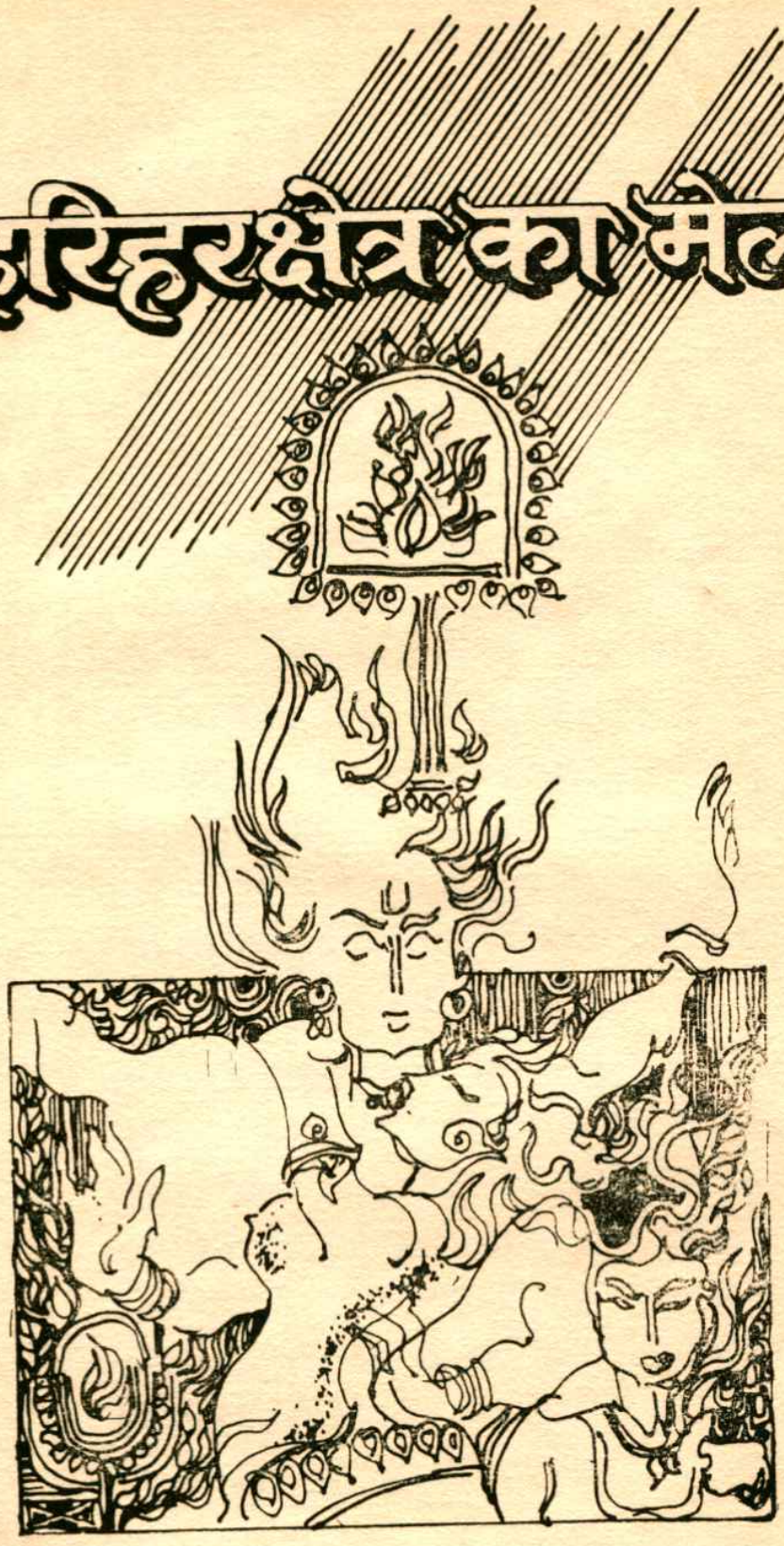

१

इस अखण्ड ब्रह्माण्ड बीच छत्तर का—जैसा मेला—
कहीं नहीं लगता, सुनता था होश हुआ था जब से,
मेरी उमर पचीस साल की हुई आज तक तब से,
मगर न मौका मिला कभी भी, जोड़ूँ पैसा-धेला,—
और चलूँ उस ठौर, जानता जिसको बच्चा-बच्चा,
देखूँ अपनी आँखों, कहते लोग झूठ या सच्चा,
इतने में सुन पड़ा, खरीदो हाजीपुर का केला!
'गुरू' सोनपुर, हाजीपुर उसका अदना-सा चेला!!

२

खुशी हुई, इसके आगे था आनेवाला छत्तर;
चला मुजफ्फरपुर से था, जाड़े में भी थी ऊमस,
छोटे-से डिब्बे में षड् ऋतु और बन्द थे नव-रस,
लोग ठसाठस भरे हुए थे पचहत्तर, सतहत्तर;
बाल-बालिका, तरुण-तरुणियाँ, वृद्ध और वृद्धाएँ,
पतित और पतिताएँ औ' कुछ सिद्ध और सिद्धाएँ,
सभी सटे-सिमटे, शरीर का टूटा 'गत्तर-गत्तर'!
तो भी खुशी कि बस अब तो आनेवाला ही छत्तर!

३

ऋष्यश्रृङ्ग को वार-नारियों ने क्या लोभ दिखाया,--
सो तो कहना कठिन, जनानी बात एकदम ठहरी!
वे सर्वांग-सुन्दरी होंगी यहाँ कूबड़ी, बहरी,—
कानी, लूली, लँगड़ी, नकटी,—सभी किस्म की काया—
हुई इकट्ठी थी, स्टेशन पर टिकट दिखाना मुश्किल,
पुरुषों पर थीं चढ़ी आ रही, उन्हें सिखाना मुश्किल,
माँ-बहनें थीं नाम-मात्र को, बहुत अधिक थीं जाया!
ज्ञान कहीं भी नहीं, सब तरफ दिखती माया, माया !!

४

गँवई जोड़ी एक, साथ मेरे, डिब्बे से उतरी;
फटी मिर्जई, रूक्ष ऋक्ष-सा लोमश, कर्कश काय—
पति मानो निकला था लेकर लट्ठ चराने गाय!
और कामिनी 'कनक-छरी', 'कटि छीन', जवानी उभरी
जन-समुद्र ज्यों क्षुद्र, तरी वह निर्भय झिर-झिर तिरती,
जिसे सामने से निहारती दृष्टि उसी को फिरती!
उसका पति अति सावधान, मत जाय उतारी गठरी!
कहीं न लुटिया डूब जाय, जल-राशि श्याम-उर ठहरी!

५

गोलमाल कुछ हुआ अचानक, शोर कि वह है, पकड़ो,
मगर बाँधता गाँठ लगाकर कौन हवा को झटपट?
वह तो बह ही गई हटा आँखों का पर्दा, घूँघट,
दे दिलचस्प नसीहत सबको,--"बस, आपस में झगड़ो!"
फटी कंचुकी बेचारी की, शरमाई कुछ खोकर,
फिर दिल हल्का किया वहीं पर सिसक-सिसककर, रोकर
पति बोला,—"रोने से ही क्या? नाक भूमि पर रगड़ो,
मेले का ले नाम थूक चाटो, कानों को पकड़ो!"

६

किन्तु जिस लिए आई थी वह इतनी दुर्गति सहती !
आठ कोस पैदल चल, फिर डिब्बे में पिसती-पिसती,
बिना अन्न-पानी के हँसती, स्वप्न-शान पर घिसती,
उस मेले से तुरत लौट चलने को कैसे कहती !
कैसे लेकर नाम उसी का थूक चाट सकती थी !
पर कैसे उस खरे खसम को बात काट सकती थी !
इसी द्विधा में रही मौन, उत्तर में आँखें बहतीं,
मैं बढ़ गया किए सिर नीचा, उच्च दण्ड वह सहती !

७

अब आया बाजार, पार करना था उसे तुरन्त,
भूख लगी थी, होटल की थी दिल हो दिल तालाश,
अन्धे कुत्ते भौंक रहे थे लगते ही बातास,
अगल-बगल थे चले जा रहे साधू, सन्त, महन्त,
'चप्पा-चप्पा' भरा हुआ था दूकानों से, तो भी—
मेरा मन बन सका न वैसा मिष्टान्नों का लोभी,
श्रान्त, क्लान्त था खोज रहा कोई होटल, श्रीमन्त—
मांसाहारी जहाँ न पहुँचें कोई सन्त, महन्त !

८

सहज घृणा है मुझे मांस से, मित्रों ने समझाया—
बहुत बार, है उससे बढ़कर भोजन पुष्ट न और,
पर नफरत ही बढ़ती है जब-जब करता मैं गौर,
सो होटल का द्वार देखकर मैं तत्क्षण फिर आया।
नाक नहीं दी जाती थी, क्या मत्स्य-मांस की गन्ध !
जो खाते उनके न नाक होती ? यदि आँखें अन्ध—
होतीं नहीं ! भूख के मारे मैं निरर्थ झुँझलाया !
अति पवित्र भोजन निहार अपवित्र न मन बन पाया !

९

कुछ फल, मेवे खाकर, पीकर गर्म-गर्म गोदुग्ध
चला घूमने, होने ही वाली थी अब तो साँझ,
कहीं मँजीरे बजते थे तो कहीं झनकते झाँझ,
किस सुख की अनुभूति करूँ, था बेसुध औ' विक्षुब्ध !
रस निचोड़ कर बिकता था पैसे-दो-पैसे-सेर,
औ' आनन्द ? लूट ले कोई भी, क्यों करता देर !
फैलाई मैंने निगाह सरसरी, नेत्र थे मुग्ध,
कुछ फल, मेवे खाकर, पीकर गर्म-गर्म गोदुग्ध !

१०

'बकर-बकर' मुँह लगा ताकने जनारण्य वह देख !
चींटी से हाथी तक, बन्दर से बब्बर तक पहुँचे
मूत्र-पुरीष तलातल तक, रजकण अम्बर तक पहुँचे
और धुआँ ? था छिपा उसी में छपा सत्य पर लेख !
'प्रगतिशील' नारियाँ बीच में, अगल-बगल घरवाली
सीधी सड़क बीच में थी, औ' अगल-बगल में नाली
यार स्यार थे चले जा रहे निरख सिंह-नख-रेख !
'बकर-बकर' मुँह ताकूँ खुद को 'सकर-पकर' में देख !!

११

जैसे आता ज्वार और फिर भाटा रत्नाकर में
छाप कूल को छलका जाता मूल्यवान बहु-रत्न
कुछ घोंघे, घड़ियाल किनारे लगते बिना प्रयत्न
लहराता जाता त्यों मैं भी उस जन-सिन्धु-लहर में
और कहीं घोंघा-सा फेंक दिया जाता झकझोर
इधर धुएँ से दम घुटता था, फिर बदबू घनघोर !
तीव्र धार में हँसता ही, फँसता आवर्त्त, भँवर में,
दिल बहलाने क्या आया, मर जाने इसी उमर में !

१२

कुछ खीमे-तम्बू थे डाले हुए महाराजों के
जहाँ विपथगाओं का झन-झन-झन सुन पड़ता हरदम
जिनके उर में मधुर मूर्च्छना, सुर में सारे सरगम
कालिदास के शब्दों में, नटराज बिना बाजों के !
वेश्याएँ गातीं, वे आगे 'नाधिन् धिन्ना' करते
यह भी कोई बात कि सावरकर से जिन्ना डरते !
काम आसमाँ में उड़ना ही बाज-बाज बाजों के,
राजे, महाराज फिर सिर हैं सभी गलाबाजों के !

१३

हाथी थे चिग्घाड़ रहे, हिनहिना रहे थे घोड़े,
बब्बर-सिंह दहाड़ रहे थे, गरज रहे थे शेर,
रेंक रहे थे गधे सधे-सीधे सबके ढब घेर,
किटकिट करते बंदर, फोंफियाते भालू के जोड़े,
सर्कस कहीं, कहीं बंदर-भालू के होते नाच,
रहा एक कपि राधेश्यामी रामायण था बाँच,
सुन-सुन बीन भैंस पगुराएँ, भड़कें बैल 'निगोड़े',
हाथी थे चिग्घाड़ रहे, हिनहिना रहे थे घोड़े !

१४

मानव गिनती की हद पाए, इतने पशु थे आए,
इतने लोग, कि क्या गुलाम नर-मादों की भी मस्ती
इतने पैसे जाय खरीदी मानवता भी सस्ती !
दो चौपाए भिक्खू महतो मगर नहीं ले पाए
अंटाचित्त हुए सुनते ही उनके महँगे दाम
लौटे, चले श्मशान घाट ज्यों होते काम तमाम !
क्या खाएँगे लोग-बाग उनके घर के मुँह बाए !
जहाँ आदमी सस्ता, महँगा बैल न क्यों हो जाए ?

१५

चिड़ियों का बाजार इधर, तीतर, बटेर औ' मोर,
हारिल, बुलबुल, बत्तख, रंग-बिरंगे मुर्ग, कबूतर
चें-चें चों-चों किर-कोकों औ' टें-टें टों-टों टर-टर
सुन-सुन मुश्किल यही समझना, सांझ हुई या भोर !
यह बाजार बर्तनों का, काँसा, पीतल औ' फूल
उतनी चमक न उन पर फैली, जितनी फैली धूल
टं-टं, ठं-ठं, झं-झं कितना तन्त्र-मन्त्र का जोर !
सुन-सुन मुश्किल यही समझना, गूँगे करते शोर !

१६

ये शर्राफ जोहरी बेच-खरीद रहे हैं रत्न
चाँदी-सोने की न चलाओ, यहाँ जवाहर-हीरे—
जड़े हुए गहने बनते-बिकते हैं धीरे-धीरे,
जितनी नई गढ़न, उतनी ही धातु लगाते प्रत्न !
वह हैं सुकनी और सनिचरी, एतवरिया, सोमरिया,
भीड़ लगाए खड़ी हुई 'मेहरारू करिया-करिया'
चार-चार पैसे लाई हैं, फिरके अथक प्रयत्न
मुँदरी ढूँढ़ रहीं, राँगा-लोहा ही उनके रत्न !

१७

मँगरी-बुधनी-बिफनी की तो आँसू हैं आँखों में
सौदा पटा नहीं, औ' घायल दिल से जब बढ़ती थीं
प्रतिभा, अनुराधा, चित्रा ने डाँटा, वे पढ़ती थीं—
"खाओ, पिओ, करो मौजें," थीं एक अरे, लाखों में !
रगड़ गई थी देह देह से, बात रही इतनी ही,
'रस्टिक गर्ल्स' हाय, वे सब थीं, घात रही इतनी ही
गर्द पड़ गई इसीलिए फूलोंवाली शाखों में !
देखो, आँसू मँगरी-बुधनी-बिफनी की आँखों में !

१८

हरिहरनाथ देव के दर्शन कर पँचकौड़ी मल थे—
चले आ रहे, शक्ति-रूपिणी कई भक्तिनें साथ,
जितना पेट खुला, उतना ही ढँका हुआ था माथ;
पँचकौड़ी मल से टकराई चित्रा चलते-चलते,
वह 'बेशर्म, बेहया' कह-कह लगे झपट गुर्राने
प्रतिभा-चित्रा-अनुराधा तब लगीं झेंप-मिमियाने
मँगरी-बुधनी-बिफनी हँसने लगीं पलक-दल मलते
लौटे आते हरिहर-मन्दिर से पँचकौड़ी मल थे।

१९

जमा अखाड़ा बड़े-बड़े तगड़े साधू-सन्तों का
लोग-बाग घेरे हैं, देखो, धर्म-अर्थ-कामार्थी,
गाँजा-भाँग-अफीम चढ़ाते कई 'पेनबामार्थी'
अगल-बगल में पाठ हो रहा कितने सद्ग्रन्थों का!
अनुशीलन भी साथ-साथ होता जाता मिलते ही—
बिगड़ी छोकरियों से आँखें, नाजुक दिल छिलते ही!
आविष्कार उदार हो रहा नए-नए पन्थों का!
देखो, वह अड्डा तगड़े-तगड़े साधू-सन्तों का!

२०

श्रेष्ठ किताबें हिन्दी लिट्रेचर की कितनी आईं!
गुलबकावली से ले तोता-मैना के सब भाग
सिंहासन - बत्तीसी, प्रेम - छतीसी, शीशी - कॉर्क,
और चन्द्रकान्ता—बाइबिल की बच्ची, मनु की ताई!
कच्चे बंगाली कहते, रवि-सा कवि हुआ न पहले
मैं कहता, पहले वे राधेश्यामी सीरिज पढ़ लें!
नमक-मिली मुरियाँ वहाँ, क्या यहाँ न नान खटाई?
'शॉ' हाँकेंगे डींग, दिखा जब तक न 'भिखारी नाई!'

२१

सेठ बुहारू मल की आई कपड़ों की दूकान
झँगरू - मँगरू मार रहे झख, इन्हें न फुर्सत इतनी
पानी पी लें, खा लें थोड़ी जवाखार की बुकनी
परेशान हैं रुपए गिनते - गिनते कर हैरान !
राम फटाका चन्दन सिर में, सिर पर पगड़ी लाल
चित्रगुप्त इनके मुनीम औ' द्वारपाल हैं काल
'आएँ, यहाँ विराजें, खाएँ भी तो जरदा - पान,
ये कशमीरी शॉल, लाल इमली के नाक न कान !'

२२

रूप - हाट की बाट इधर; हर शख्स खोजता हूर
सर के बल चल रहा, तल रहा गर्म - गर्म अरमान,
खुदा खा रहा खौफ, ताकता उसका मुँह मेहमान !
हो जाते जज्बात आप ही आप मगर काफूर—
जब - जब दिख जाती करीब से जन्नत की मायूसी
ताजमहल में रखी हुई ज्यों जौ - गेहूँ की भूसी !
कंडे पाथ नूर के गड्ढे दिए किसी ने पूर !
यह हुजूम से घिरा इश्क का हुस्न - परस्त हुजूर !

२३

वह गुलाब, वह जवाकुसुम, वह चम्पा और चमेली
वह नर्गिस, वह ताज, नाजनी, आलमआरा वह है
कृष्णा, वीणा, शशी, सोहनी, श्यामा, तारा वह है
उस चुड़ैल का नाम हसीना, वह बुढ़िया अलबेली
दो आने से पाँच - सात रुपयों तक इनकी कीमत
सब कुछ पहले खत्म हो चुका, अब पूँजी ही अस्मत
इनके खीमे - खीमे धक्का - मुक्की, ठेला - ठेली,
वह गुलाब, वह जवाकुसुम, वह चम्पा और चमेली

२४

कृष्णा औ' वीणा, कहते सब, हैं उस्ताद गवैया,
जमींदार, राजे, महराजे—सभी फिदा हैं उन पर,
यों वह कहते, मुग्ध हुए हम उनके सुर पर, धुन पर!
यह नवीन उपयोग न धन का, है कुदरती रवैया!
विष्णु दिगम्बर की थीं तानें सुन ली, जब था बच्चा,
अब भी इतना शौक कि समझूँ म्यूजिक पक्का, कच्चा,
पर ठाकुर ओंकारनाथ गाने लगते जब—'मैयाऽ
मैं माखन नहिं खायो' तब वह कहते—'यही गवैया'?

२५

कला-पारखी होते कितने, यह तो भुवन-विदित है!
कहते हैं, हम भाव देखते, मगर देखते आँखें,
नृत्य नहीं, वे परखा करते रूप-परी की पाँखें,
असल कला की अतः हो रही उन्नति भी नित-नित है!
चीर कलेजा कलाकार दिखलाता है,—यह देख,
जग कहता, छीः, मांस-पिंड पर खिंची रुधिर की रेख!
प्राण देखनेवाला तन पर होता कब मोहित है!
कला-पारखी होते कितने, यह तो भुवन-विदित है!

२६

परिस्तान की तरफ चला जाता था मैं जिस वक्त,
एक प्रखर आलोचक मेरे दिखे उक्षर से आते,
लगे फुदकने झट निपोर कर खीसें, 'क्यों शरमाते?
मैं न कहूँगा कहीं किसीसे, आप न बगला-भक्त!
तेज कदम बढ़ जायँ, बहुत-सी आई हैं कविताएँ;
आप कहें, दो-चार-पाँच का हम भी पता बताएँ!'
सुन कर क्रोध हुआ, होने दीं आँखें किन्तु न रक्त,
आलोचक कम्बख्त जहाँ, कैसे हो बगला भक्त?

२७

आज पूर्णिमा थी, जाते सब करने संगम - स्नान
मैं भी चला, घूमता ही था कल से, जब से आया
हरिहर नाथ देव के दर्शन भी न अभी कर पाया
पुण्य हो न हो, मेले का था यह भी एक विधान !
अंडा - जैसा पंडा एक मिला जब कच्चा बच्चा—
पाँच - सात का, मैंने सोचा, यह होगा ही सच्चा,
वहीं पर्स औ' कुर्त्ता, चप्पल रख कर, धर कर ध्यान—
गंगा मैया का कर डाला गंडक ही में स्नान !

२८

थोड़ी पूजा की, अष्टोत्तर शत गायत्री का जप,
वह चिंतामणि मंत्र कि जिससे लिखा गया था नैषध,
और महामृत्युंजय, कहलाता जो दीर्घायुःप्रद,
देख पड़े, जब आँखें खोलीं तब वसिष्ठ औ' कश्यप,
भरद्वाज, अंगिरा, कपिल, गौतम, कणाद—सब आगे,
ध्यान लगाए बैठे थे, कुछ सोए थे, कुछ जागे—
केंद्र - बिंदु था बना हुआ मैं, वैसा किया न था तप,—
बन जाता मैं स्वयं हाय, जिससे वसिष्ठ या कश्यप !

२९

खड़ा हो गया फिर उठ कर झट पकड़ बाँस का खम्भा
देख सामने स्वर्ग रह गया मैं तो हक्का - बक्का,
हुआ उचक्का दिल, जैसे चलता इक्के का चक्का,
नहा - नहा थीं वसन बदलती अहा ! उर्वशी, रम्भा,
स्वर्ण - वर्ण कोई, तो कोई ताम्र आम्र की कोंपल,
कहीं चन्द्र-मण्डल मावस का, कहीं शरद् घन श्यामल,
सद्य पुण्य था प्राप्त स्नान का, तनिक न हुआ अचम्भा !
धत् तेरे की ! कपड़े - कपड़े ! कहाँ उर्वशी, रम्भा !

३०

पीछे पलट निहारा, चप्पल और पर्स थे गायब
गीला टावेल हुआ नदारद, बचा देह पर जो था,
सोचा, 'परियों' के दर्शन का प्रायश्चित्त अनोखा!
'गीता बेगम' याद हुईं औ' याज्ञवल्क्य जी 'नायब'!
लगा सोचने, ये अभागिनें क्यों करती हैं स्नान—
जहाँ मर्द की गर्द उड़ रही, होता जप, तप, ध्यान!
समझाने पर लड़ने लगतीं—'हम तो हियैं नहायब'!
'सीता बेगम' याद आ गईं औ' लक्ष्मण जी 'नायब'!

३१

पर रोनी सूरत हो जाती, जब करता मैं याद—
ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी हैं ताड़न-अधिकारी,
इनके मोद-प्रमोद के लिए घर, आँगन औ' 'बारी',
तड़फड़ करते प्राण-पखेरू उड़कर हों आजाद?
मेले या बाजार-बीच खुलकर हँसती-खिलती हैं,
पुरुषों से भी अधिक नारियाँ तभी यहाँ मिलती हैं,
घर पर जीतीं, किन्तु यहाँ लेतीं जीवन का स्वाद,
धर्म-कर्म तो ब्याज, राज क्षण भर होना आजाद!

३२

भूल गया अपनी चीजें खो जाने का दुख सारा
टूटा जब दुपहर में तारा मध्य गगन में एक,
हो-हल्ला मच गया, उड़ चलीं बातें तभी अनेक,
काबू में हो सका बड़ी मुश्किल से सच का पारा,—
बाल-यौवना शिशिर-धौत शेफालि-मालिका-सी थी,
ग्राम-भामिनी सरल एक गोपाल-बालिका-सी थी,
पड़ी स्तब्ध, निश्चेतन, तकती बहती गंगा-धारा,
काबू में हो सका बड़ी मुश्किल से सच का पारा!

३३

भगवतिया है नाम, सास से हरदम रहती डरती,
उम्र हुई चौदह की, लेकिन लड़का हुआ न पैदा,
सास बनाती उसे इसीसे मार-मार कर मैदा,
आखिर मारे डर के बच्चा जना, और क्या करती!
रही मनौती : गंगा मैया पूरी कर दें आस,
जीता बकरा जायँ चढ़ाने स्वयं पतोहू, सास,
आई थी भगवतिया घर से गिरती, पड़ती, मरती,—
गंगाजी को बकरा देने, बेचारी क्या करती!

३४

बाँभन चिउड़ा-दही न खाता था, जो ढोकर लाई,
भगवतिया थी त्रस्त, दक्षिणा हाय कहाँ से पाती,
ताने देती सास, साध कर साँस रही शरमाती
कठिनाई थी, आई थी वह लेकर ग्यारह पाई!
बड़ी देर तक कड़ी बहस के बाद हुआ 'जेवनार',
फिर बकरा-संकल्प, दक्षिणा आधी रही उधार,
बकरी का बच्चा मेंमियाता, कैसी गंगा माई!—
लेतीं नहीं हुलस गोदी में! भगवतिया घबराई!

३५

भगवतिया थी ठिठुर रही, गंगा की धारा शीतल,
पैठ कमर तक जल में बकरे को थी रही डुबोती,
वह न डूबता, सास डाँटती—"ओ चमार की पोती,
ले, सँभाल अपने बच्चे को, करता कलबल-कलबल"!
बाईं बाँह फँसी बच्चे में, दाईं में बकरा था,
बच्चा रोता, में-में करता बकरा डरा-मरा था,
इधर देखती, उधर देखती, भगवतिया थी विह्वल,
बच्चा रोता, बकरी का बच्चा था करता कलबल!

३६

सास डाँट कर हटी वहाँ से, तब भगवतिया पगली
झटपट फेंक चली बच्चे को, जिधर तेज थी धारा,
चढ़ आई ऊपर भू पर, पिच्छिल था कूल - किनारा,
औंधे मुँह गिर पड़ी, सास से गई न जिससे निगली !
लेकिन यह क्या ? बकरी का बच्चा तो है मेंमियाता !
औ' उसका बच्चा ? क्यों हाय, कलेजा मुँह को आता ?
गंगा मैया ! तू पहचान न पाई असली, नकली ?
अब न कराना होश उसे माँ, भगवतिया है पगली !

•

# कलियुग के कृष्ण

१

घिसी रूढ़ि का उल्लंघन करना ही मौलिकता है,
फिर भी मौलिकता मर्यादापेक्षी तो होती है,
लोग हँसें, पर सद्य-जात सन्तान स्वयं रोती है!
अस्वाभाविकता मौलिकता क्या, वह दुर्बलता है!
फिर भी 'अस्वाभाविकता' जिसके 'स्वभाव में आए,
बड़ी कठिनता, कलाकार किसके प्रभाव में आए?
'पूर्व' पक्ष से विश्व रुष्ट, 'पर' से न कार्य चलता है!
यह 'कलियुग के कृष्ण' न मेरी कोरी मौलिकता है!!

२

यह ऐसा है सत्य कि जैसा यह पृथ्वी है गोल,
कला सत्य से बड़ी नहीं, मेरा विश्वास अटल है,
कला न धुँधला चित्र मात्र, जिसमें न प्राण का बल है,
काया कैसी भी हो, आँकूँ मैं प्राणों का मोल!
तीन शादियाँ की थीं, कितनी-कितनी रखेलियाँ थीं,
और पौर-नारियाँ बहुत-सी बूझी-पहेलियाँ थीं,
कलियुग के थे कृष्ण दीखते तो भी गोल-मटोल!
यह ऐसा है सत्य कि जैसा यह पृथ्वी है गोल!

३

यह कहना था कठिन कि करते थे वह किसको प्यार !
जब जिसकी बारी, वह नारी उन पर हो बलिहार
एक बार जो आए वह खुद को जाए ही हार
वह करते व्यायाम, देखते 'मसल' उभार-उभार !
बातचीत का विषय कभी उनकी न नारियाँ होतीं
जो न जगाती उन्हें, छोड़ देते वह उसको सोती
निर्विकार यौवन के कितने उच्च, उदार विचार !
यह कहना था कठिन कि वह करते थे किसे न प्यार !

४

रूप अनूप नहीं था, लेकिन वह विद्रूप नहीं थे,
बदन गठीला, डील-डौल के ऊँचे, पूरे, पक्के
अकड़-अकड़ चलते थे, गो लगते थे नहीं उचक्के
जमींदार थे अच्छे, यों तो कोई भूप नहीं थे,
पूजा-पाठ किया करते थे, किन्तु नहीं थे ढोंगी
अन्न-वस्त्र औ' द्रव्य बाँटते थे, न स्वयं थे भोगी
रत्नाकर थे नहीं, मृत्तिका के भी कूप नहीं थे,
जमींदार थे अच्छे, यों तो कोई भूप नहीं थे।

५

पहली पत्नी ने बतलाया—एक ब्याह तो आप—
कर लें और, न योग्य आपके हूँ, मैं तो अतिदुष्ट !
भ्रम से भी यह आप न सोचें, मैं होऊँगी रुष्ट।
मैं कहती करने विवाह, यह भी क्या कोई पाप ?
लगे सोचने तब कलियुग के कृष्ण, "समझती कामी—
यह है मुझे, जवानी की तो मगर न यह बदनामी !
ब्याह करूँगा मैं, चाहे हो वह वर या अभिशाप,
कौन कहेगा भला मुझे, करता हूँ मैं यह पाप !"

६

कॉलेज की थी छँटी, छटंगी, यह जो आई गोरी,
चाकचिक्य रहता बाहर, पर रक्त-प्रदर की रोगिन,
पिचके गाल, धँसी आँखें, ऊमस की तपी वियोगिन,
लगीं दवाएँ होने आते-आते थोड़ी-थोड़ी।
समझ नहीं वे पाते, अब क्या करें दैव के मारे,
तभी विहँस बोली वह, कर लें एक ब्याह फिर प्यारे!
मैं न बचूँगी, रहें आपकी आशाएँ मत कोरी!
मेरी किस्मत 'काली' काली, काया 'गौरी' गोरी!!

७

और, तीसरी जो आई, शहनाई-सी बजती थी!
समझ न पाई भेद प्रथम, है रीति यहाँ की कैसी,
दो के रहते मैं आई, है प्रीति यहाँ की कैसी,
चमक अधिक थी, तभी अधिक सबसे जाती मँजती थी!
कलियुग के थे कृष्ण मुग्ध उस स्वर्ण-वर्ण प्रतिमा पर
न्योछावर था शलभ स्नेह भर जलती हुई शमा पर
वह छिन-छिन अपना सुरूप रहती सजती-धजती थी
चमक अधिक थी, तभी सभी से बहुत अधिक मँजती थी।

८

नौकरानियाँ जितनी थीं, सब सरस, मधुर, युवती थीं
जान बूझ कर रखी हुई बेजान, अबूझ हों कैसे?
करती रहें काम दिन भर, पर कहें नहीं, दो पैसे,
यह कहना पुनरुक्ति-दोष, वह सब अद्वैत सती थीं!
कलियुग के थे कृष्ण न उनसे बातचीत भी करते
वह भी उनके कमरे में थीं जाती डरते-डरते
बोपदेव की गप्प, गोपियाँ वृन्दा में बसती थीं!
मैं न करूँ पुनरुक्ति दोष, वह सब अद्वैत सती थीं?

९

कटते - कटते गई जिन्दगी यों 'चालिस' के पार,
दो स्वर्गीय पत्नियाँ कुम्भीपाक - लोक जा धमकीं
एक बची मरते -मरते हो म्लान, न फिर वह चमकी;
तरुण दासियाँ भागीं बूढ़े को दिखला मझधार!
अब कलियुग के कृष्ण थक चले करते जीवन-युद्ध
नित्य शुद्ध संबुद्ध, किन्तु प्रद्युम्न रहे अनिरुद्ध,
यों तो लगने लगता जब तब, सच संसार असार!
कटते - कटते गई जिन्दगी 'चालिस' के भी पार।

१०

जायदाद बिक गई बहुत, अब अपव्यय चलना मुश्किल
भूख - प्यास की मारी पर कोई नारी आती ही,
नन्दन वन की बिकी पिकी मरु - तरु पर भी गाती ही!
उनकी पत्नी जलती, कटती, अब था छलना मुश्किल
घर की हालत देख - देख वह रहती हरदम झखती
बिटिया एक गोद में थी, जिससे थी जीवन रखती,
और नहीं तो प्रतिछन, प्रतिपल था कर मलना मुश्किल,
सबकुछ समझ चुकी थी, अब था उसको छलना मुश्किल

११

बिटिया बढ़ती गई, गया घटता औ' सब कुछ बाकी
जब - जब नशा उतरता, कलियुग के थे कृष्ण बिलखते
दम जाता, पर मजे नहीं होते कम चखते - चखते!
सोचा करते, मौत नहीं क्यों अब जल्दी आ जाती!
तभी अगर कोई दिख जाती भोली - भाली छोरी'
डोरे डाल फाँस ही लेते उसे आह! 'बलजोरी'
उनकी पत्नी समझ न पाती, क्या उनको समझाती?
खुद सोचा करती, अब भी क्यों मौत नहीं है आती!

१२

एक बार उनकी पत्नी ने पूछा, "क्या है बात
जो न आपको होता है सन्तोष किसी नारी से
नई-नई बुलवाते रहते हैं बारी-बारी से
सब दिन बैठे ही रहते हैं आप लगाए घात?"
तब हँसकर वह बोले—"मैं तो कलियुग का हूँ कृष्ण,
शत-शत मर मिट जायँ नारियाँ, फिर भी रहूँ सतृष्ण,
अभी पाँच सौ पाँच हुई हैं, आने दो बरसात
एक हजार पूर्ण कर लूँगा, यह भी कोई बात!

१३

शिवि, दधीचि, हरिचन्द, युधिष्ठिर, सबका जग में नाम
राजवंश का हूँ मैं भी, तो क्यों यों ही मर जाऊँ?
इस दुनिया में थोड़ा भी क्यों नाम नहीं कर जाऊँ?
मैं कलियुग का कृष्ण गौर, द्वापरवाले थे श्याम—
बस इतना ही अन्तर मुझको दिखता है: सुकुमारि,
मेरी प्यास बुझाने को तुम अपर्याप्त हो नारि,
तुम घर-द्वार निहारो, मेरा तो, विहार ही काम
मैं कलियुग का कृष्ण गौर, द्वापरवाले थे श्याम!"

१४

पत्नी ने पूछा कि आपने मक्खी भी है मारी?
किया कृष्ण ने वध असुरों का जो थे महा नृशंस
जरासन्ध, शिशुपाल, काल-सा क्रूर, कठिन-उर कंस,
इन्द्र-गर्व था खर्व किया होकर गोवर्धन-धारी,
गीता का उपदेश दिया अर्जुन को बीच समर में
जिसे समझने की न शक्ति हो सकती पामर नर में
उन सब बातों की अनुकृति में बुद्धि आपकी हारी!
पौरुष-हीन पुरुष की छाती पर सवार है नारी!!

१५

'पौरुषहीन !' कृष्णजी बोले, "यह क्या बकती पगला !
मुझे देखते ही पहली पत्नी थी थर्रा जाती,
औ' कॉलिजवाली दाँतों से धर लेती थी माटी,
गाँधी की चेली, तू जाने चरखा - करघा - तकली !
मत मुझसे कर व्यर्थ बात, साहस देने का शिक्षा,
तू नारी है, आँचल फैला माँग पुरुष से भिक्षा—
अन्न - वस्त्र को, माँग कभी गहने भी असली-नकली;
माँग 'माँग औ' कोख', शोख ! बकबक करती क्या पगली!"

१६

पत्नी ने देखा, कलियुग के कृष्ण प्रचण्ड गँवार
इनसे यों बातें करना बेकार, समय का नाश,
ये सुन सकते नहीं किसी की, इन्हें न यम का त्रास !
फिर भी शक्ति न मान सकेगी शव-से शिव से हार !
सो वह हँसकर, विकल विहँसकर, उनकी मति-गति फेर,
मदिर - वासना - अन्ध - दृष्टि से मन्द-मन्द मुख हेर—
बोली, 'मुझसे एक बात बतलाएँ, प्राणाधार,—
मिला हाय ! चिरतृष्ण कृष्ण को राधा का भी प्यार ?'

१७

प्यार ! छू गई बिजली ज्यों, हो गए कृष्ण जी काले,
यह उनने सोचा था कब, उनने तो प्यार किया था
जब जो आती थी पलभर उसको चुमकार दिया था
पाया जाता प्यार अगर तो पड़े रहे ही लाले—
उन्हें प्यार के, सब दिन हारे थे वे तारे गिनकर
—आसमान तो बहुत बड़ा, आँखें थकतीं लख छिनभर,
सो, चुपचाप चले दरवाजे मुँह में ताला डाले,
गोरी पत्नी ने देखा, हो गए कृष्ण जी काले !

१८

जीवन-गति पर, चंचल मति पर, अपनी क्षति पर डाल
सूक्ष्म-दृष्टि, थे देख रहे वे, क्या कोई भी नारी—
उन्हें मानती थी प्रियतम ? क्या वह न प्रेम-अधिकारी
—हुए आज तक कभी किसी के ? भाग्य महा विकराल
रहा हाय ! उनका तब तो ? लेकिन दें किसको दोष,
जड़ मजबूत नहीं, टूटी डालों पर क्योंकर रोष ?
भूल हुई, अब कभी न होगी, सँभलेंगे इस काल,
सोच रहे थे, नियति डालती उनपर दृष्टि अराल !

१९

मन ही मन की प्रबल प्रतिज्ञा, दूँगा अब सब छोड़ !
दलित वर्ग की स्त्रियाँ बेचकर देह चलातीं गेह,
यही नागरिक मर्यादा, दयनीय करें क्या स्नेह ?
उन्हें दग्ध कर रही सभ्यता, वह सामाजिक कोढ़ !
ठीक रहेगा यही, न पड़ने दूँगा उनपर दृष्टि,
क्या संभ्रान्त, धनिक लोगों से शून्य हो गई सृष्टि ?
वहीं मनोरंजन कर लूँगा चम्पक-कलिका तोड़,
मन ही मन की प्रबल प्रतिज्ञा, दूँगा अब सब छोड़।

२०

दो बहनें थीं इन्द्रदमन बाबू की अभी कुमारी,
एक पचीस साल की होगी, अट्ठारह की एक,
एक कण्ठ से कहते थे सब, दोनों बहनें नेक,
भोली - भाली सूरत, लोचन क्षण में तन - मन - हारी,
नाम सत्यभामा पहली का, छोटी का अभिरामा,
थी सुवर्ण - वर्णा पहली, छोटी थी किंचित् श्यामा,
पहली थी सब पास, दूसरी करती थी तैयारी,
भोली - भाली सूरत, लोचन क्षण में तन-मन-हारी।

२१

इन्द्रदमन बाबू कहते थे बहनों से,—"निर्लज्जा !
छाती ढाँक नहीं चलना आता ? दिखलाती रहती !
दो-दो मन के स्तन ! कैसे हो बोझ असह यह सहती ?
हालत थी लेकिन बहनों की, केवल हड्डी, मज्जा—
किसी तरह थी बची देह पर, खाना कम खाती थीं,
जितनी अधिक कसी जा सकती, कस लेती छाती थीं,
हाय ! किन्तु प्राकृत यौवन को ढँकती कृत्रिम सज्जा ?
और, पतित भाई कहता था बहनों को निर्लज्जा !

२२

इन्द्रदमन बाबू गरीब थे, ऐसी बात नहीं थी,
रुपए गाड़ रहे थे घर में, और बैंक में रखते,
अर्थशास्त्र के एम. ए., जग को उसी नजर से लखते
बहनों को सकते न ब्याह, कुछ ऐसी घात नहीं थी।
लेकिन थी जिद उन्हें, पिता क्यों असमय स्वर्ग सिधारे
पैदा किया किसी ने, वह क्यों बोझ सहें बेचारे !
सो बिन रोए बहनें काटें ऐसी रात नहीं थी !
सब सहने की आदत, मरतीं, ऐसी घात नहीं थी।

२३

पड़ी दृष्टि श्रीकृष्णचन्द्र की अभिरामा पर श्यामा,
उसे वशंवद कर लेने का चला प्रयत्न निराला
पर मर कर भी वह न चाहती थी करना मुँह काला
किन्तु सत्यभामा वयस्कता के कारण थी वामा !
कृष्ण चलाकर चक्र उसे ले आए अपनी राह
अपने यौवन-वन का करने चली स्वयं वह दाह
कामार्दित थी, किन्तु साधना थी उसकी निष्कामा
रही स्नेह से प्रबल, देह से केवल लगती क्षामा।

२४

मार-पीट कर पत्नी को उनने यह था जतलाया
वही सत्यभामा से मिलने की माध्यम बन जाए,
वह भी उसके घर निरर्थ या सार्थक जाए, आए,
तब न किसी को होगी शंका, फैलाए वह माया,—
यों ही इन्द्रदमन बाबू को न्योता भेजे जब-तब
अभिरामा भी तभी बदल देगी अपना रूखा ढब,
फिर क्या ? होंगी चटुल उँगलियाँ पाँचों घी में, छाया—
पीछे-पीछे चले धूप के, पति के पीछे जाया।

२५

होने लगी 'पीर' की पूजा सुरुचिपूर्ण यह पहली !
पत्नी प्रहरी बनती थी, श्रीकृष्ण-सत्यभामा जी—
बन्द हुआ करते मन्दिर के अन्दर, ही-ही, छी-छी !
जाती भाग सत्यभामा पर जभी तबीयत बहली।
इसका भी अपराध चढ़ाया जाता था पत्नी पर,
क्रोध उतारा जाता था जब, रो लेती थी जी भर,
और आपदाएँ कितनी ! उसने तो इतनी सह लीं !
हुई पीर की पूजा थी शुचि, सुरुचिपूर्ण यह पहली !

२६

कृष्णचन्द्र की रानी बिटिया थी हो चली सयानी
चौदह शिशिर पार कर अब थी कंजकली वह फूली
मलय-पवन का सरस परस पा प्राण-झकोरे झूली
देखा करती वृद्ध पिता की मनमानी, नादानी,
पूछा करती माँ से,—यह सब क्या है रहता होता ?
उत्तर में बेकस माँ की आँखों का बहता सोता !
प्रकट कर सकी सब रहस्य पर अभिरामा की वाणी,
उसके पूज्य पिता की अगणित मनमानी, नादानी !

२७

अभिरामा से पुत्री की मैत्री जब देखी उनने,
एक बार फिर लार टपक कर गिरी, पड़ी गृहिणी पर,
उल्कापात हुआ जैसे दृढ़-पाश-बद्ध हरिणी पर!
नवोन्मेष प्रतिभा का—खाका-खींच लगे सिर धुनने—
यों कि किसी विधि अभिरामा आ जाय चित्रसारी में
जाने क्या आकर्षण दिखता उन्हें उसी नारी में!
उनकी पुत्री विस्मित हो उपदेश लगी वह सुनने!
नवोन्मेष प्रतिभा का, खाका खींच लगी सिर धुनने!!

२८

बन्द कर दिया अभिरामा से हिलना-मिलना उसने;
बातों बात बढ़ा कर झगड़ा अड़ा दिया अपना मुख,
दोपहरी में देख-देख कर एक नया सपना, सुख,
समझ असम्भव अधिक और दुख माँ से झिलना उसने;
होश फाख्ता हुए कृष्ण के, ऐसी प्रतिक्रिया क्या!
उनकी पत्नी ने कुछ उल्टा समझा उसे दिया क्या?
चाहा है, अब देखे उनके दिल का छिलना, उसने?
बन्द किया क्यों अभिरामा से हिलना-मिलना उसने?

२९

तीव्र सुरा कर पान मार उनने तब इतनी मारी,
रुधिर वमन कर मूर्च्छित पत्नी हुई भूमि-तल-लुंठित;
था अखण्ड मण्डलाकार बस पातिव्रत्य अकुंठित!
कैसी जोड़ो सुर-पुर का नर औ' धरती की नारी!
होश हुआ जब, माता ने पुत्री से पूछा—'क्यों री,
मेरे गले बँधी रेशम की कहाँ गई वह डोरी?'
सिसक-सिसक तब पुत्री बोली बोली प्यारी-प्यारी—
'माँ, मेरा अपराध, मरूँ मैं, पहले मेरी बारी!'

३०

गले-गले मिल माँ-बेटी कुछ देर रहीं तब रोती;
आँखों में सुरमा, खिजाब बालों में कृष्ण लगाते,
रहे मुकुर-उर देख-देख मृदु मन्द-मन्द मुसकाते,
सहसा प्रकट हुई अभिरामा,—स्फुरित बिज्जु की जोती,
अपने घर से इस घर की तुलना कर होती म्लान,
कितनी ऊँची दूकानों के ये फीके पकवान!
इस संभ्रान्त भ्रान्त कुल को धिक्, वह घसियारिन होती!
गले-गले मिल जिस घर की दीवारें हँसतीं-रोतीं!

३१

कृष्णचन्द्र की पत्नी ने अभिरामा को बिठलाया,
और कहा, मेरी अनपढ़ लड़की तुमसे लड़ बैठी,
जहर उगलती चलती है, नागिन-सी रहती ऐंठी,
इसीलिए उसके बाबूजी ने मुझसे बतलाया:
'अभिरामा से क्षमा माँग फिर उसे यहाँ ले आओ,
तिल-तिल मेलो, हिलमिल खेलो, खिलखिल हँसो-हँसाओ!'
ऊधो-माधो का सूधापन निर्जन मन को भाया?
पहले बैठो तो, कह उनने सादर उसे बिठाया।

३२

अभिरामा पर सरल न इतनी, समझे सुधा गरल को!
मुग्ध हुई हाँ, महाभाव लख महिमामयी सती का,
लगी सोचने अन्तर जो उच्छृङ्खल और व्रती का,
कैसे शान्त करे पारे-से उस अतिचपल, तरल को!
निरपराध नारी का जो है वध करने को उद्यत,
जो आकाश-कुसुम-संचय को करता है कर उन्नत,
कैसे 'चन्द्र-कान्त' माने वह कुत्सित कुष्ठ-धवल को!
अभिरामा थी सरल न इतनी, समझे सुधा गरल को।

३३

बीते कुछ दिन, अभिरामा थी जब-तब आती जाती;
किन्तु कृष्ण के पास भूल कर भी न कभी स्थिर होती,
उनके प्रश्नों का कलंक अट्टाट्टहास से धोती!
पुत्री जैसी-तैसी बातें सुन-सुन कर शरमाती।
तनिक किया इंगित कि तरंगित हुआ कृष्ण का मानस,
समझा, धन्य अनंग-रंग, उद्वेल आज रति का रस!
'पारदर्शि' बोतल कहती, मैं आज न ढलने पाती!
बीत चला उजला दिन, काली रजनी थी अब आती।

३४

रजनी घनी हुई, पुत्री निश्चिन्त भाव से सोई;
पत्नी आँगन में पलंग पर लेटी गिनती तारे;
अभिरामा की बाट जोहते कृष्णचन्द्र मन मारे
पर वह इतनी रात गए आती, थी बात न कोई!
उसका इंगित व्यंग्य-कुतुक, क्यों माने हाय, दुराशा!
मरु-मरीचिका की छलना को कैसे समझे प्यासा!
सूखा कण्ठ यहाँ तक, लगतीं आँखें रोई-रोई!
आती इतनी रात गए अभिरामा, बात न कोई!

३५

नशे और गुस्से से डगमग-पग श्रीकृष्ण उठे जब
चौखट में टकराया सिर, फिर हुआ गर्म यों पारा—
थप्पड़ से, घूँसे से, जूते से पत्नी को मारा—
यह कहते-कहते कि "बेखबर यहाँ पड़ी हो तुम सब!
अभिरामा की राह रोक कर अड़ी खड़ी हो तुम सब!
चीखो, चिल्लाओ, मैं देखूँ, कौन बचाता है अब!
लात चाहनेवाले होते मुदित बात से हैं कब?"
नशे और गुस्से से डगमग-पग श्रीकृष्ण भगे तब।

३६

विषधर का ज्यों चढ़ा जहर, यतिभंग-भरा प्रति छन्द,
माँ बेटी को दो चाँटों से जगा, डाँट कर बोली—
"बाप बुलाते हैं घर में, जल्दी जा, सुन ले भोली !"
उधर बाप हुलसे,—'अभिरामा!' इधर द्वार कर बंद—
ताला जकड़, साथ ले कुञ्जी, बाँध गले में फाँसी—
गिरी कुएँ में आँगन के माँ, ले ली करवट-काशी !
रहा रसातल रखे अंक में उसे, स्वर्ग निष्पन्द !
विषधर का भर जहर हुए यतिभंग-मंद सब छन्द !!

•

# कल्कि अवतार

१

नीरव नील-निशीथ चाँदनी की झीनी-सी चादर—
ओढ़े पौढ़ा था शबनम से टँके मृदुल शाद्वल पर।
औ' मैं था पर्यंक-अंक में, बन्द निलय के अन्दर।
सुधा-धौत दीवारों को विद्युत्प्रकाश था सादर—
सविनय झुक-झुक निरख रहा। फूलों की मादक गन्ध
सौध-द्वार से फिर-फिर जाती। गंध-अंध निर्बंध
भीतर सेंट-लवेंडर के पहुँचे सब बंधु-बिरादर।
मैं लिहाफ सोने का ओढ़े, निशि चाँदी की चादर।

२

महाराज के राजमहल से लौटा था कुछ पहले।
नर्तक कार्तिक के वे कत्थक नृत्य सरस, गम्भीर—
घूम रहे थे स्थिर नयनों में। था आनन्द-अधीर।
यों मेरा ऐसा स्वभाव, शायद कुछ से दिल बहले!
सोचा करता, एकाकी जीवन यह कैसा होता,
मेरे सुख-दुख में भी हिल-मिल कोई हँसता-रोता!
आज राजकवि हूँ, पर रचता किसका प्रेम-विरह ले—
सजल काव्य? जिस पर शुभ सम्मति सुन लौटा कुछ पहले!

३

कालिदास से रवि ठाकुर तक बड़े-बड़े कवियों के—
सुख-सौभाग्य-भाग्य की अगणित किंवदंतियाँ चलतीं।
उनकी कविता के अंत:पुर में वे मणियाँ जलतीं
जिन्हें बुझा सकने में अक्षम प्रलय-पवन के झोंके।
कवि के हृदय-नयन का जल-कण दीख किसे है पड़ता?
जग को पाटल-पुष्प चाहिए, काँटा गड़ता, गड़ता!
कविता के कमनीय कंठ में, गीले मोती पो के—
पहनाए हैं गए सदा द्वारा महान कवियों के।

४

इसी भाँति था दुलराता दुर्भाग्य-देव को अपने।
एक गीत का भाव गया रह मुँदी-मुँदी आँखों में।
एक गीत की हुई लीन धुन निद्रा की पाँखों में।
आए बादल-दल से घिर-घिर रंग-बिरंगे सपने।
मृग-शावक-नयना, घुटनों तक तिरते श्यामल केश,
लब्धि लेखती-सी यौवन की, औ' शैशव का शेष,
स्वर्ग-वर्ग को परी एक उतरी भूपर। जप-तप ने—
मर्त्य-लोक के, माँगे थे उससे आँचल भर सपने!

५

उसके चल लोचन कहते वह अपुलिन जलनिधि तरने!
केश-पाश कहते थे, यों क्यों सहज छुटे जाते हो?
मिट्टी के पुतलो! मिट्टी पर व्यर्थ लुटे जाते हो!
उभरा वक्ष:स्थल कहता था दृढ़ बाँहों में भरने!
किंतु मर्त्य तो स्वर्ग नहीं, मिलती स्वतन्त्रता इतनी—
यहाँ कहाँ? इस ठौर प्रकृति को जकड़े कड़ियाँ कितनी!
निद्रा-परी-किन्नरी तक को देवी माना नर ने,
जिसे नरक का भय हो, जाए वह वैतरणी तरने!

६

ड्रेक गेस्ट हाउस स्टेशन के पास-पास था पड़ता
यही निवास-स्थल था मेरा। ट्रेनों की आहट से—
श्रांति-क्लांति की नींद नहीं खुलने पाती थी झट से
सो केवल खट-खट-खट ध्वनि से उस दिन उठा उमड़ता।
द्वार खोल देखा विस्मित-दृग,—एक खड़ी युवती थी,
अत्याधुनिक वेश, पश्चिम की मुखरा सरस्वती थी।
मैं हिन्दी का कलाकार, इंग्लिश में रुकता-अड़ता—
ज्यों-त्यों उस धारा-प्रवाह में पहुँचा गिरता-पड़ता।

७

होल्ड-आल औ' ट्रङ्क-अटैची रखा कुली को वापस—
लगी भेजने। रोका मैंने कमरा खुलवाने को—
एक दूसरा; मिस्टर मोदी को द्रुत बुलवाने को।
तब घबराई: "करें न झंझट। यहीं ठहरने दें बस!
नहीं? चली जाती हूँ स्टेशन, होगा वेटिंग रूम,
सो जाऊँगी वहीं, नहीं तो प्लैटफार्म पर घूम—
लूँगी घंटे चार रात के अब गुजार। है साहस।"···
"कुली! उठाकर ट्रङ्क और बिस्तर स्टेशन चल वापस।"

८

सारँगगढ़ के किसी बालिका-विद्यालय की शिक्षक—
बनने थी जाती, वह कोई क्रिश्चन कुमारिका थी।
पूर्व प्रात के गगन-नयन की निर्मल सु-तारिका थी।
हुआ उसे भ्रम था कि गेस्ट हाउस का मैं संरक्षक!
अस्तु, किसी भी भाँति उसे लौटा न सका। अंग्रेजी
बोल रही थी ऐसी, गायब होती मेरी तेजी।
एक ओर मणि और दूसरी ओर उर्द्ध्व-फण तक्षक—
देख लुब्ध औ' क्षुब्ध हो रहा था मन, उसका रक्षक!

६

ड्रेक गेस्ट हाउस स्टेशन के पास-पास था पड़ता
यही निवास-स्थल था मेरा। ट्रेनों की आहट से—
श्रांति-क्लांति की नींद नहीं खुलने पाती थी झट से
सो केवल खट-खट-खट ध्वनि से उस दिन उठा उमड़ता।
द्वार खोल देखा विस्मित-दृग,—एक खड़ी युवती थी,
अत्याधुनिक वेश, पश्चिम की मुखरा सरस्वती थी।
मैं हिन्दी का कलाकार, इंग्लिश में रुकता-अड़ता—
ज्यों-त्यों उस धारा-प्रवाह में पहुँचा गिरता-पड़ता।

७

होल्ड-आल औ' ट्रङ्क-अटैची रखा कुली को वापस—
लगी भेजने। रोका मैंने कमरा खुलवाने को—
एक दूसरा; मिस्टर मोदी को द्रुत बुलवाने को।
तब घबराई: "करें न झंझट। यहीं ठहरने दें बस!
नहीं? चली जाती हूँ स्टेशन, होगा वेटिंग रूम,
सो जाऊँगी वहीं, नहीं तो प्लैटफार्म पर घूम—
लूँगी घंटे चार रात के अब गुजार। है साहस।"...
"कुली! उठाकर ट्रङ्क और बिस्तर स्टेशन चल वापस।"

८

सारँगगढ़ के किसी बालिका-विद्यालय की शिक्षक—
बनने थी जाती, वह कोई क्रिश्चन कुमारिका थी।
पूर्व प्रात के गगन-नयन की निर्मल सु-तारिका थी।
हुआ उसे भ्रम था कि गेस्ट हाउस का मैं संरक्षक!
अस्तु, किसी भी भाँति उसे लौटा न सका। अंग्रेजी
बोल रही थी ऐसी, गायब होती मेरी तेजी।
एक ओर मणि और दूसरी ओर उर्द्ध्व-फण तक्षक—
देख लुब्ध औ' क्षुब्ध हो रहा था मन, उसका रक्षक!

३

कालिदास से रवि ठाकुर तक बड़े-बड़े कवियों के—
सुख-सौभाग्य-भाग्य की अगणित किंवदंतियाँ चलतीं।
उनकी कविता के अंत:पुर में वे मणियाँ जलतीं
जिन्हें बुझा सकने में अक्षम प्रलय-पवन के झोंके।
कवि के हृदय-नयन का जल-कण दीख किसे है पड़ता?
जग को पाटल-पुष्प चाहिए, काँटा गड़ता, गड़ता!
कविता के कमनीय कंठ में, गीले मोती पो के—
पहनाए हैं गए सदा द्वारा महान कवियों के।

४

इसी भाँति था दुलराता दुर्भाग्य-देव को अपने।
एक गीत का भाव गया रह मुँदी-मुँदी आँखों में।
एक गीत की हुई लीन धुन निद्रा की पाँखों में।
आए बादल-दल से घिर-घिर रंग-बिरंगे सपने।
मृग-शावक-नयना, घुटनों तक तिरते श्यामल केश,
लब्धि लेखती-सी यौवन की, औ' शैशव का शेष,
स्वर्ग-वर्ग को परी एक उतरी भूपर। जप-तप ने—
मर्त्य-लोक के, माँगे थे उससे आँचल भर सपने!

५

उसके चल लोचन कहते वह अपुलिन जलनिधि तरने!
केश-पाश कहते थे, यों क्यों सहज छुटे जाते हो?
मिट्टी के पुतलो! मिट्टी पर व्यर्थ लुटे जाते हो!
उभरा वक्ष:स्थल कहता था दृढ़ बाँहों में भरने!
किंतु मर्त्य तो स्वर्ग नहीं, मिलती स्वतन्त्रता इतनी—
यहाँ कहाँ? इस ठौर प्रकृति को जकड़े कड़ियाँ कितनी!
निद्रा-परी-किन्नरी तक को देवी माना नर ने,
जिसे नरक का भय हो, जाए वह वैतरणी तरने!

६

ड्रेक गेस्ट हाउस स्टेशन के पास-पास था पड़ता
यही निवास-स्थल था मेरा। ट्रेनों की आहट से—
श्रांति-क्लांति की नींद नहीं खुलने पाती थी झट से
सो केवल खट-खट-खट ध्वनि से उस दिन उठा उमड़ता।
द्वार खोल देखा विस्मित-दृग,—एक खड़ी युवती थी,
अत्याधुनिक वेश, पश्चिम की मुखरा सरस्वती थी।
मैं हिन्दी का कलाकार, इंग्लिश में रुकता-अड़ता—
ज्यों-त्यों उस धारा-प्रवाह में पहुँचा गिरता-पड़ता।

७

होल्ड-आल औ' ट्रङ्क-अटैची रखा कुली को वापस—
लगी भेजने। रोका मैंने कमरा खुलवाने को—
एक दूसरा; मिस्टर मोदी को द्रुत बुलवाने को।
तब घबराई: "करें न झंझट। यहीं ठहरने दें बस!
नहीं? चली जाती हूँ स्टेशन, होगा वेटिंग रूम,
सो जाऊँगी वहीं, नहीं तो प्लैटफार्म पर घूम—
लूँगी घंटे चार रात के अब गुजार। है साहस।"...
"कुली! उठाकर ट्रङ्क और बिस्तर स्टेशन चल वापस।"

८

सारँगगढ़ के किसी बालिका-विद्यालय की शिक्षक—
बनने थी जाती, वह कोई क्रिश्चन कुमारिका थी।
पूर्व प्रात के गगन-नयन की निर्मल सु-तारिका थी।
हुआ उसे भ्रम था कि गेस्ट हाउस का मैं संरक्षक!
अस्तु, किसी भी भाँति उसे लौटा न सका। अंग्रेजी
बोल रही थी ऐसी, गायब होती मेरी तेजी।
एक ओर मणि और दूसरी ओर उर्द्ध्व-फण तक्षक—
देख लुब्ध औ' क्षुब्ध हो रहा था मन, उसका रक्षक!

९

फर्नीचर थे और, एक ही लेकिन था पर्यंक।
जाड़े की थी रात। फर्श पर मुश्किल था सो जाना।
बहुत बुरा लगता था उसका हठकर चुप हो जाना।
उसे लेटने को कह, बैठा कुर्सी पर सातंक।
सहज भाव से सोई वह लेती-लेती खर्राटे।
चौकीदारी पड़ी रात भर मुझ मूरख के बाँटे
'सुप्रभात' कह प्रात उठी। पंकज जैसे निष्पंक!
मुखड़ा टुकड़ा लगा चाँद का क्लम-नाशक अकलंक।

१०

सारा भ्रम हो गया दूर। कैसी निर्दोष सरलता!
मैंने कभी नहीं देखी थी वैसी स्मिति निष्पाप!
बोली,—'ऐसा कष्ट दिया, भूलेंगे मुझे न आप!"
सचमुच पाँच बरस से है ही स्मृति-प्रदीप वह जलता।
स्मृति-प्रदीप! हाँ, जिससे जब-तब उसका मुख दिख जाता!
ज्यों मेरे उर पर कोई दो प्रिय अक्षर लिख जाता!
क्षणभर उन्मन होता हूँ, फिर यथापूर्व सब चलता।
मेरे मन-मन्दिर में स्वर्णिम स्मृति-प्रदीप है जलता।

११

जाते-जाते बता गई थी वह विचित्र वृत्तांत!
उन्हीं दिनों की, ख्यात रायपुर की रहस्यमय घटना!
बहुत कठिन है उसका मेरे हृदय-पटल से हटना।
वह घटना औ' वह नारी ज्यों मिले करुण औ' शान्त!
उस दिन सुख के मुख से दुख की मैंने सुनी कहानी।
नयनों ने पाई थी उस दिन प्रथम-प्रथम ही वाणी।
और, गिरा ने नयन निराले। स्पर्श एक दुःखान्त—
पाया था नाटक ने जग-जीवन के सहज प्रशान्त।

१२

खाना खाना शुरू किया हम दोनों ने जब साथ—
सरल हास-परिहास, चुहल-कलरव, आमोद-प्रमोद—
नील पीत अरुणाभ कमल, उसका उर सर 'अच्छोद'!
'गया धर्म,—वह हँसी—'छू गया अभी आपका हाथ!'
"जो आता-जाता वह भी क्या हो सकता है धर्म?
दुष्कुल से भी स्त्री-रत्नों का संग्रह जिसका मर्म!"
कह, मैं हँसा तार सप्तक पर हिला-डुलाकर माथ।
खाना खाना शुरू किया हम दोनों ने जब साथ।

१३

स्त्रीरत्नों का संग्रह! यह क्या? आप कल्कि-अवतार—
बनना चाह रहे हैं? तब तो होगा बड़ा तमाशा!
उसे देखने को मैं भी आजाऊँ, यह अभिलाषा!
अभी यही तो हुआ रायपुर में, कैसा संसार!
करता कौन निरोध? सुघरता बल्कि कल्कि-पूजा की—
हुई ख्यात शत स्वर से। 'जैसी रही भावना जाकी—
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी' तन-मन-धन—सब हार।
तरी पार कर गई धार यद्यपि टूटी पतवार।

१४

"साइन-बोर्ड चतुर्दिक बहुरंगे थे हुए लगाए।
खीमे-तम्बू तने हुए थे, लटके बन्दनवार।
दिन भर बन्द, रात को खुलता भक्तोद्धारण-द्वार।
पुरुष-प्रवेश-निषेध, रहे सब वक टकटकी लगाए।
धनी गृहिणियाँ ही अधिकाधिक नित-प्रति आतीं-जातीं।
और-और औरतें देखतीं, देख-देख बलि जातीं।
अस्थिर-उर घर आतीं फिर-फिर दर्शन-आस लगाए,
हृदय कल्कि का दास, पास पति रहते कण्ठ लगाए।

१५

"सुन्दर था भी बहुत, केश लम्बे काले घुँघराले।
पहने मुकुट, मुकुट में कलँगी-सी मयूर की पाँख,
सूर्य-रश्मि-सा अंग-रंग, परवल को फाँक न आँख,
कानों में मणि-कुण्डल, मोती-माल गले में डाले।
दन्त-पंक्ति दाड़िम के दानों-सी उद्दाम दमकती।
पीत-पटी रेशम की चमचम चंपक-चारु चमकती।
'देवि' कहे वृद्धा को, नवयुवती को 'सुन्दरि' 'बाले'!
दिव्य दीप्ततर अंग-रंग, केवल कुन्तल थे काले।"

१६

छवि की ऐसी पिच्छिल छाया छूकर प्रमुदित-चित-सी
मुझे लगी वह। सूझा जिससे एक मधुर परिहास।
मैंने कहा,—"क्षमा करना, थी तनिक तुम्हें भी प्यास!
रस ले-ले नख-शिख-वर्णन करती हो चिर-परिचित-सी!"
उसने कहा,—"सत्य ही तो, वह था द्वादश-वर्षीय,
बड़ी आपसे भी हूँ, होता वही न प्रिय आत्मीय?
पर क्यों आप उदास हुए, जब मैं लगती पुलकित-सी?
छाया-छवि को माया लखकर, झखकर, प्रमुदित-चित-सी?"

१७

'बंग-वासियों के अंतर में उठती तरल तरंग :—
बंग-प्रांत में ही उदात्त आत्माओं का अवतार
होता रहता है, केवल यह सकल सत्य का सार!
हुआ एक बुढ़िया का यह बकते-बकते स्वर-भंग।
'बाल-युवतियाँ तान कान तक चितवन-बंदनवार
स्वागत करतीं, दर्शन के क्षण दिखा उच्छ्वसित प्यार।
कल्कि-देव के चित्र-फलक में भरती नव-नव रंग।
गौरव-वर्णन करते-करते हो जाता स्वर-भंग।

१८

'एक मास तक मची रही इस भाँति नित्य प्रति धूम।
पूजन, नीराजन, गायन दिन रात अलौकिक उत्सव।
मर्त्य-खण्ड था करता जैसे सकल स्वर्ग का परिभव।
यह क्रम किंतु न रहने पाया, चक्र गया टुक घूम।
एक पतिव्रत पालन करनेवाली पत्नी ने की
ऐसी चूक कि बदी हो गई करते-करते नेकी!
पत्नी बेचारी थी दानी, पति अभिमानी, सूम,
सो अपनी मुँदरी पहना दी कल्की का कर चूम!

१९

'थे पतिदेव वकील, कील-सी चुभी उन्हें यह बात।
सिर खुजलाने लगे, देर तक सोच निकाला मर्म,
करना होगा उन्हें कल्कि का मर्मोद्घाटन-कर्म!
अवसर-शर-संधान-हेतु पर रहे लगाए घात।
उन्हीं दिनों था किया गया सम-स्वर सर्वत्र प्रचार
वर्षों पहले कहीं हो चुका कल्की का अवतार।
जयी सत्ययुग चला आ रहा कलियुग को दे मात।'
मिथ्या-शील वकील, कील-सी चुभी सत्य की बात।

२०

'किसी भाँति भी सत्य सत्ययुग के आने का हल्ला—
लगता था न उन्हें। कल्की का जन्म सरासर झूठ—
जँचे; तभी पत्नी से भी थे गए अचानक रूठ।
इतना गरजें-तरजें, जाए हिल मकान पंचतल्ला।
घूम-घूमकर अगल-बगल में करने लगे प्रचार—
झूठ, ढोंग, पाखण्ड, धूर्त्तता कल्की का अवतार!
सुन-सुन लगे इकट्ठे होने कितने लल्लू-लल्ला!
ऐसा भो क्या गर्जन, जाए हिल मकान पँचतल्ला!

२१

"एक भयंकर नर-समूह ले व्यूह रचाए आए
कल्की के फाटक पर। प्रहरी थीं दो शुभ वामाएँ।
'खसी माल मूरत मुसुकानीं',—भीतर नर मत आएँ!
'जय-जय जन-गण-मन-अधिनायक', थे जन-गण मुँह बाए।
तब वामाओं के सम्मुख जा बोले वीर वकील—
"कल्की का दिल देखेंगे चोखे चाकू से छील,
कढ़ो आह, देंगे उखाड़ जितने तम्बू तनवाए,
हम नर-वानर-सैन्य रचा संग्राम मचाने आए!"

२२

"माइकेल मधुसूदन का वामादल तो था न वहाँ पर!
मुण्डमालिनी वहाँ कहाँ? भागीं दोनों वामाएँ।
दुर्ग तोड़कर प्रथम बढ़े नायक,—अनुयायी आएँ!
सिंह-द्वार खुल गया, खबर क्षण-भर में पहुँची घर-घर।
ढहा-बहाकर कूल किनारा बही नगर-नर-धारा।
आसमान का बदल गया बादल का नक्शा सारा!
देख एक 'जिज्ञासु' भक्त काँपे 'अर्थार्थी' थर-थर!
सिंह द्वार खुल गया, कुशल पल-भर में फैली घर-घर!

२३

"जैसे सिंह शशक-शावक पर झपटे, धधके पावक—
शुष्क वेणु वन में, निरभ्र-नभ में ज्यों चपला चमके
कल्की के आगे वकील साहब त्यों ही आ धमके।
तब थीं उनके चरणों में रूपसियाँ रचती जावक।
'काढ़त-गुहत-नहावत-पोंछत नागिन-सी भुइँ-लोटी,—
चोटी-बीच मुकुट सजती थीं सखियाँ मोटी-मोटी।
बूढ़े-बूढ़े बंगाली दो-तीन बने अभिभावक
देख रहे वात्सल्य-दृष्टि से थे शावक-पद-जावक।

२४

"आगे बढ़ आए अभिभावक देख 'प्रखर'-नर-व्यूह।
लगीं रमणियाँ अंचल-पट से झपट कल्कि को ढँकने।
हो-हल्ला मच गया। लगे सब के सब बकने-झकने।
कल्की का दल विकल हो उठा देख ढहाते ढूह।
बूढ़े बोले—"क्या है? क्योंकर मचा यहाँ हंगामा?
चलो, पुलिस के पास चलें हम, जरा पहन लें जामा।"
पर उर धक-धक करता—'टलनेवाला यह प्रत्यूह—
इतनी सरल तरलता से है नहीं, सजा है व्यूह!'

२५

'जलद-पटल बिलगाइ प्रगट भे तेहि अवसर तहँ' कल्की।
वह व्यक्तित्व मधुर, तत्क्षण जन-मन-मोहन वह रूप,
देख प्रभावित हुए सभी, रह गए गड़े ज्यों यूप!
प्रात-वात-आहत-नलिनी-सी कुल ललनाएँ ललकीं!
पीछे से बूढ़े बंगाली गाली बकते भागे।
कल्की स्थिर-गम्भीर, धीर-पद और आ गए आगे।
कर जोड़े, हीरक-नग-वाली कई मुँदरियाँ झलकीं।
ललनाएँ तुलना करती थीं सजल आज से कल की।

२६

"उनके नमस्कार का उत्तर देते जुड़े सभी कर।
लख उनकी मुसकान सभी का कोप शान्ति में बदला।
नयन-मीन ने स्वच्छ कर दिया उर का पानी गँदला!
'क्या आज्ञा?'—वे बोले, बोली मधु-घोली, गद्गद स्वर।
रुद्ध-कण्ठ सब रहे, हुए केवल वकील वाचाल,
बोले,—'प्रकट हुए क्या सचमुच कल्की—कलि के काल?
फिर कल्की के संग-संग इतनी कामिनियाँ क्यों कर?
और, नारियाँ ही क्यों अन्दर जाएँ, जब नर बाहर?'

२७

"शंकाएँ सुन, कल्की की धनु बनीं भृकुटियाँ बंक।
फिर भी आँखें उड़ीं नहीं, पाँखें भीगी थीं, भारी,
आता मुँह को उलट कलेजा,—अब जवाब की बारी!
आर्द्र अधर से पिछल गई बोली,—'हम ब्राह्मण, रंक!
ये रूपसियाँ नहीं, हमारी बहनें पाँच कुमारी;
शेष सात ताऊजी की आँखों को जोती हारी।
मेरे माता-पिता नहीं हैं, ताऊजी सातंक
अभी-अभी हैं गए उधर कर सरल भृकुटियाँ बंक।

२८

"हम बंगाली वैष्णव हैं। यात्रा-पार्टी में राम
अथवा कृष्ण बना करते थे। उसी आय से घर का
कैसे खर्च चला सकते? फिर बड़ी बहन के वर का
अन्वेषण भी शुरू हुआ था। हम क्या करते काम?
पढ़ा-लिखा कुछ नहीं, उमर है अभी हुई बारह की।
अब तक हुआ विवाह नहीं बहनों का किसी तरह भी।
हम अत्यन्त दरिद्र, कहाँ से लावें वर का दाम?
उड़िया ब्राह्मण ही वैसे जैसे बंगाली राम!

२९

'ताऊ कितने वृद्ध, आपने अभी-अभी देखा है।
बारह कन्याओं का ब्याह नहीं, जीवन-निर्वाह
भी वे कैसे करें? इसी आफत ने किया तबाह!
धनियों की भिक्षा का हमने लिया बहुत लेखा है!
शंपा-कंप-सदृश अनुकम्पा से न हमारा काम—
किसी भाँति था चलनेवाला, अन्तर्यामी राम!
सत्य और पैसे को योजक छिन्न-भिन्न रेखा है!
इसी वयस् में हमने जग को उलट-पुलट देखा है!

३०

'बहनों के बदले यदि होते इतने बंधु हमारे,
कहीं चाकरी करते होते हम सब बाहर जाकर!
रोनेवाला कहाँ कौन था, मरते भी विष खाकर—
जो जीना दूभर होता पूँजीपतियों के मारे!
हम जिस दर्जे के ब्राह्मण हैं, उस कुल के युवकों का—
—मत्स्य-ग्रास की आस लगाए बैठे ब्रती बकों का—
हम-जैसों के प्राण-दान से भी 'पन टरत न टारे'!
दीन बालिकाएँ मर जातीं कितनी इनके मारे!!

३१

'बहुत सोचने पर यह सूझी पैसोंवाली राह।
अनुचित लाभ उठाने को जन्मांध धनी जनता से
गए कराते धर्म युगों से कुछ पैसों के प्यासे!
ईश्वर और धर्म! पौ बारह, फिर किसकी परवाह!
बेचा जाता धर्म यहाँ ताँबे के कुछ टुकड़ों पर!
ईश्वर फुसलाए जाते दोने भर 'दही-बड़ों' पर!
पर मन्दिर के फाटक पर भूखे मर जाएँ आह,
उन पर दृष्टि पड़े न, धर्म औ' ईश्वर की यह चाह!

३२

'कम से कम बारह हजार रुपए हों, तब हो ब्याह—
मेरी बारह बहनों का, इसलिए लिए ये बाने।
'शुक्राचार्य' बने बैठे हैं, यद्यपि हैं हम 'काने'।
सात हजार अभी आए हैं। और एक-दो माह—
मिहनत कड़ी करें। कुछ शहरों की फिर छानें खाक,
तब शायद कर पाएँ बहनों का कर्जा बेबाक।
उन्हें जलाए जाता है उनका ही अन्तर्दाह।
कम से कम बारह हजार रुपए हों तब हो ब्याह।

३३

पुरुष सशंक अधिक होते हैं तर्क-वितर्क-प्रधान.
श्रद्धा या विश्वास हो न हो, होता ही संदेह;
इसीलिए उनका प्रवेश अवरुद्ध रहा सस्नेह।
था 'बहनों' के लिए किया 'माताओं' का आह्वान!
निज कलिकाएँ ही लतिकाओं पर खिलती-खुलती थीं।
मेरी बहनें ही महिलाओं से मिलती-जुलती थीं।
और नहीं तो···कहे भला कोई, जो तज अवधान
किसी भाँति भी मातृ-जाति का हुआ यहाँ अपमान!

३४

'अति दारुण दारिद्र्य-दुःख हमको बेकार कलंकी—
बना रहा है। आपलोग जाने क्या-क्या सोचेंगे!
हमें न इसका डर यदि सब मिल 'ठग' कह बँधवा देंगे!
आप सभी की हैं ये बहनें, इनका भार कलंकी।
अर्थोपार्जन का यदि कोई मार्ग सुगम बतलाएँ,—
आपलोग, निश्चय ही हम उस पर पग रख बढ़ जाएँ,
कल्की का अवतार नहीं, हम तो अवतार कलंकी!
अति दारुण दुख हमें बनाए है बेकार कलंकी।'

३५

यह कहते-कहते उस युवती की आँखें भर आईं।
मैं न पूछ पाया फिर कल्की का, आगे का हाल,
जेल गए या पूर्णकाम हो लौट गए बंगाल!
लगा देखने, पड़ती जाती थी शशि-मुख पर झाईं।
मद्रासी ब्राह्मणी जन्म से थी वह। दुःख असह से—
हुई क्रिश्चियन थी ठुकराई जाकर जगह-जगह से।
एक ओर तम-कूप, दूसरी ओर खुदी थी खाईं,
तो भी मरे अरे, कैसे वह, 'जाको राखे साईं!'

३६

नीरव नील निशीथ चाँदनी की झीनी-सी चादर—
ओढ़े पौढ़ा था शबनम से टँके मृदुल शाद्वल पर।
औ' मैं था निष्पंद, बन्द उस सौध-सदन के अन्दर।
एक छुई छवि-छाया पर पड़ता प्रकाश था सादर।
बही नहीं उस रात समीरण शीतल-मंद-सुगंध।
खिले नहीं खुल फूल, भूल-सी गई प्रकृति गति-अंध!
'मोर सून मंदिर'—अपने-अपने घर बंधु, बिरादर,
'हमर दुखक नहिं ओर', घोर 'बादर', 'जीवन भर भादर!'

# ब्रह्मचिकित्सा

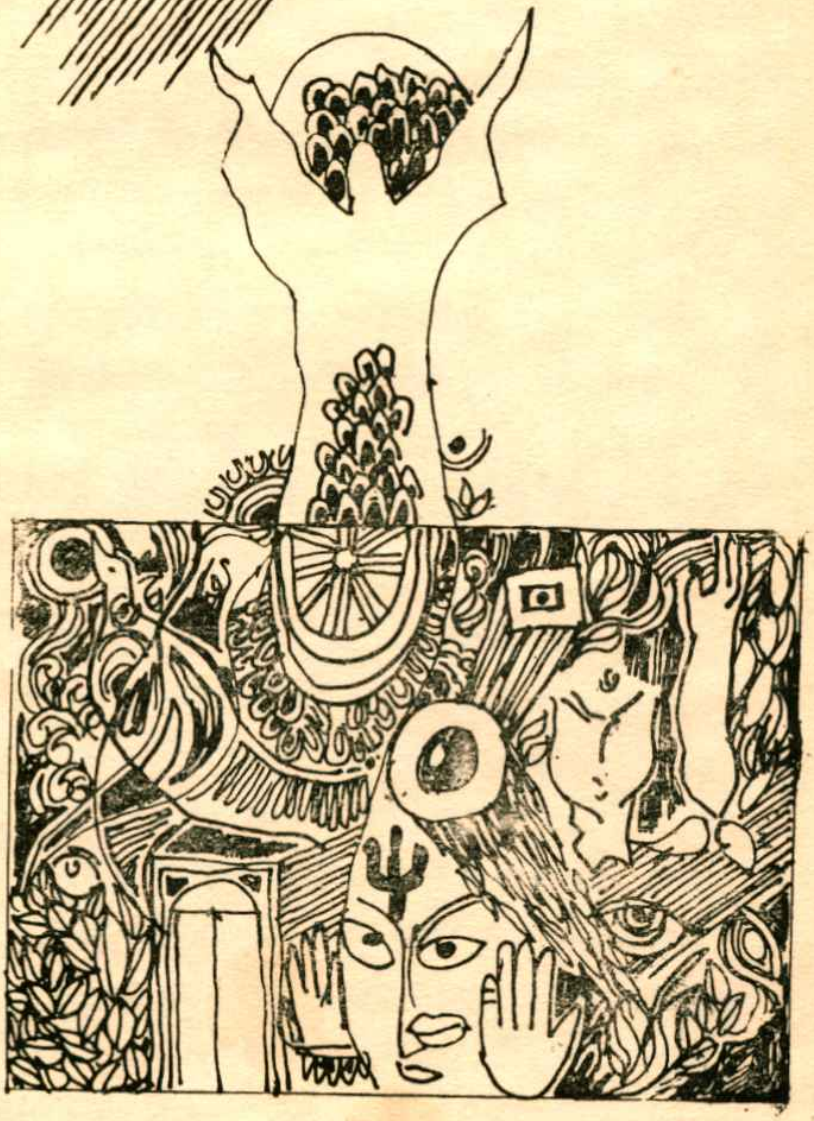

१

जाग रहा होगा क्या कोई बीते इतनी रात,—
यही कुतूहल ले अन्तस्तल में डेरे से निकला।
चलता गया, जहाँ तक अगले कदम संग था पिछला।
पर पिच्छिल पथ पर चरणों ने जब पाया आघात,—
हुआ जोश का पारा ठंडा। बैठा गगन मही पर।
बजती थी ढोरों की घंटी टुन-टुन कहीं वहीं पर।
पीपल का था पेड़ एक, हिलते-डुलते थे पात।
घनी घनी अँधियारीवाली भादों की थी रात।

२

घटा घिरी इतने में, बूँदें रिमझिम लगीं बरसने।
दस बजते-बजते गाँवों में लगभग सो जाते सब।
बारह थे बज रहे, हुई मालूम परेशानी अब।
किसी द्वार का आश्रय लेने को जी लगा तरसने।
जल्दी-जल्दी उस बस्ती की कर परिक्रमा डाली।
झिल्ली की झंकार सुनी, देखी काली अँधियाली।
और कहीं कुछ नहीं, भयानक रस तब लगा सरसने।
किसी द्वार का आश्रय लेने को जी लगा तरसने।

३

उस तस्कर-सी दशा उस समय थी मेरी, जो पागल—
तीव्र क्षुधा से होकर चोरी करने को चल पड़ता।
लेकिन किसका सात्विक उर तामस-मति-मग में अड़ता।
समझ न पाता, कहाँ आ गया, ऐसा कैसा चापल!
तभी सुनाई पड़ी दूर से तुलसी की चौपाई,
उसी गाँव की तरफ बढ़ूँ, यह बात हृदय में आई।
किन्तु जहाँ था खड़ा, वहीं पर दीपक झलका झलमल।
और जोर से लगा बरसने घन तम पर जल उज्ज्वल।

४

पीपल पर घुग्घू बोला, की एक गाय ने 'बायँ'।
निकट पैर के एक साँप-सा पड़ा रेंगता दीख।
रही नहीं सिकुड़ी जुबान, हड़बड़ा पड़ा मैं चीख:
इतने में आई पुकार—"हैं कौन? इधर आ जायँ।"
एक-एक रोंगटा हो गया खड़ा, चली छुट नाड़ी,
एक घरौंदे के दरवाजे उजली-उजली साड़ी—
पहने, 'डिबिया' लिए हाथ में, प्रेतिन, दाबे 'पायँ'—
सायँ-सायँ करते सन्नाटे से बोली—"आ जायँ।"

५

गोंद-लगी पृथ्वी से जैसे सटे हुए थे पैर,—
डग भर भी मैं सरक सकूँ, इतनी थी शेष न शक्ति।
औ' ज्यों बिजली सड़े ताड़ पर प्रकट करे अनुरक्ति,—
'डिबिया' रख वह बढ़ी इधर ही। भूली सारी सैर।
मैंने चिल्लाना चाहा, पर स्वर कढ़ता भी काश!
मृत्यु निकट थी चली आ रही। अब निश्चित था नाश।
पर वह हँसी ठठा कर मेरी बाँह पकड़ निर्वैर—
चली द्वार की ओर; ठिठकते, डगते मेरे पैर।

६

'डिबिए' के चंचल प्रकाश में निश्चल मुझे निहारा,—
अधभीगे कपड़े, बालों पर बूँदों की थी पाँति।
रिस्टवाच मणिबन्ध-बँधो, किट्-किट् करती किस भाँति!
मनीपर्स ऊपर पॉकेट में, बूट कीच का मारा।
देख लिया आचूल-मूल। तब बोली—"क्यों डरते हैं?
किसे ढूँढ़ते यहाँ? कहाँ घर? कौन काम करते हैं?"
शुष्क-कण्ठ से समाचार रुक-रुक बतलाया सारा।
तब तक बारिश बन्द हो गई, निकला कोई तारा।

७

इच्छा हुई लौट चलने की, तब बोली—"रुक जाएँ,
इधर सभी गाँवों में जोरों से हैजा है फैला,
साथ-साथ हैं गए जलाए कितने मजनूँ-लैला!
शहर पहुँचते तक चिड़िया भी कहीं आप जो पाएँ!
अब होने दें सुबह, आप दिखते पूरे दीवाने,
नाहक जान गँवा बैठेंगे इधर-उधर अनजाने!
मेरे घर में कोई भी है नहीं, खौफ मत खाएँ,
आएँ, सो जाएँ; होने दें सुबह, आप तब जाएँ।"

८

कोई युक्ति न काम कर सकी, चला गया चुप सोने।
बिस्तर-बिछा पलंग मिला, झटपट लाकर दी धोती।
जिसे प्रेत समझा उसकी आँखों में था अब मोती।
अर्ध-भीत उर कहता था, जो होता सो दो होने।
गीले कपड़े सब उतार कर दिए, गई फैलाने,
मैंने सोचा, दी हैं कितनी बहनें भारत-माँ ने!
दिया उसे अपनी इस भावुकता पर हँसने-रोने!
गई दूसरे घर में वह चुपचाप, मुझे कह सोने।

९

वातावरण नवीन, भवन अनजान, हृदय में विस्मय,
तो भी गहरी नींद आ गई, थका हुआ था कैसा!
ऐसी सनक सवार हुई थी नहीं। न साहस ऐसा—
कभी किया था। मिटा दिया था उसने सब संशय, भय-
अपने मृदु वचनों, व्यवहारों से। सोने के पहले—
ऐसा लगा, मुझे हैं बाँधे लेते सूत्र सुनहले!
इसीलिए अतिशीघ्र हो गया मैं निद्रा में तन्मय।
अन्तरंग, बहिरंग मिट चुके थे संशय, विस्मय, भय।

१०

लालटेन थी जला गई इस घर में। लोटा-ग्लास
सिरहाने की तरफ रख गई थी। सोने के वक्त
लगा गई मसहरी और थी। मैं था यदपि विरक्त।
मेरा था सिद्धान्त, 'चाहिए और प्रसार, प्रकाश।'
मकड़ी का-सा जाल—मसहरी मुझको लगती थी तब,
बाहर को न हवा लग पाती, कैसे जोते हैं सब!
लेकिन उस दिन ऐसा कुछ न लगा, बदला विश्वास,
झीने झुरमुट से दिखता था हँसता हुआ प्रकाश!

११

सहसा हक्का-बक्का होकर उठा। कलेजा धक्-धक्
करने लगा। उसी घर में शायद वह भी थी सोती।
चिल्ला-चिल्ला पीट-पीट कर छाती अब थी रोती।
लालटेन बुझ गई तभी जल्दी-जल्दी कर भक्-भक्।
उतर खाट से खड़ा हो गया। गया निकटतर उसके।
मुझे देख चिल्लाना छोड़ा, केवल सिसके-सुसके।
इधर-अचानक जगने से दिल तो करता था फक्-फक्।
पर सँभालकर पूछा,—"होगा कष्ट आपको बे-शक—

१२

—फिर भी पूछे बिना और मुझसे न रहा जाता है।
क्या कारण, इस समय आप रोती हैं, मुझे बताएँ।
जब अपनाया एकबार फिर गैर समझ न सताएँ!"
वह टुक रुककर बोली—"मुझसे अब न सहा जाता है!
दुख से पागल होकर रो पड़ती हूँ, समझें इतना,
मैं अनाथ, विधवा एकाकिनि, और कहूँ क्या, कितना!
पड़ा भँवर में प्राण-कुमुम, मुझसे न गहा जाता है!
बीच धार में काट रहा चक्कर, न बहा जाता है।

१३

"यह भी भूल गई, मेरे घर सोए हैं अभ्यागत।
मेरे रोने से उनकी तो नींद उचट जाएगी।
मुँह से कहें, कहें न, तबीयत लेकिन झल्लाएगी।
सोचेंगे घर में लाकर कर रही खूब यह स्वागत!
मगर करूँ क्या, 'उनके' छोड़े लगभग बीता साल।
हुई बावली हूँ, तबसे ही मेरा ऐसा हाल।
अनुचित-समुचित कुछ न समझती, होगी जाने क्या गत!
भूल गई अभ्यागत का भी करना आगत-स्वागत।

१४

"पर इतनी तारीफ करूँगी, है अच्छा अभ्यास
तनिक लेटते ही बिस्तर पर नींद आपको आती!
मुझ अभागिनी को तो निंदिया भी है अब तरसाती।
बाहर-भीतर आती-जाती रहती ले-ले साँस।
जिस पलंग पर, जहाँ आप सोए, 'वे' मरे वहीं पर।
खाँस-खाँसकर तीन साल तक 'हाँ' को गए 'नहीं' कर।
आप तनिक न डरे, मेरा तो गायब होश-हवास—
हो जाए यदि उस पर बैठूँ लेते-लेते साँस!"

१५

फिर उसके हठ करने पर सो गया खाट पर जाकर।
चाह रहा था मैं न दिखाना उसे विकल उर अपना।
सत्य न करना चाह रहा था, जो था सचमुच सपना।
गुप-चुप बैठी थी जमीन पर अब वह भी रो-गाकर।
बुझा हुआ था लैंप। घुप्प-सा लगता था सब ओर।
मेघ गड़गड़ाते थे। वर्षा होती थी घनघोर।
सोने की चेष्टा की मैंने यह सब कुछ बिसरा कर।
गुप-चुप बैठी थी जमीन पर अब वह भी रो-गाकर।

१६

निद्रा आई नहीं, अलस तंद्रा छाई पलकों पर।
देखा, छप्पर उड़ा जा रहा, मुड़ा जा रहा बाएँ।
और एक कंकाल खड़ा है हुआ निकट आ दाएँ।
गड्ढों में हैं धँसी-धँसी उसकी आँखें। गालों पर—
कई चकत्ते छिले-छिले हैं। दाढ़ी बढ़ी हुई है।
खायँ-खायँ करता खखारता, अँतड़ी सड़ी हुई है,—
बदबू फैला कफ निकालता मटमैले कपड़ों पर।
निद्रा आई नहीं, अलस तंद्रा छाई पलकों पर।

१७

कुछ क्षण बाद लगा कि छू रहा है वह मेरे अंग।
गर्म-गर्म वह स्पर्श ! हो चला मेरा लोहू पानी।
लगा, बोलता दाँत कट-कटा कर स्फुट-अस्फुट वाणी।
देख नुकीले नाखूनोंवाले दो पंजे संग—
प्राण न कैसे निकले, अब तक भी मैं समझ न पाया।
ब्रह्म समझना सरल, समझना महाकठिन है माया।
चिल्लाया मैं बड़े जोर से, छिड़ी हुई थी जंग;—
मेरा सिर था अलग नाचता और अलग थे अंग।

१८

वह औरत झट झपट खाट पर पहुँची। मैं तो थर-थर—
काँप रहा था। झकझोरे बलजोरी मेरे पैर।
पूछा, "ख्वाबी दुनिया की पूरी न हुई है सैर?
अभी आप थे चीख रहे ज्यों 'भाँड़ी' में मुँह रखकर!"
मैं गद्‌गद-स्वर बोला,—"डर अब मुझे बहुत लगता है;
मैं सोता भी हूँ, पर मेरा दिल रहता जगता है!
समझ न पाता, लौट सकूँगा क्या सकुशल अपने घर!"
उसी समय झंझा का झोंका आया करता 'हर-हर।'

१९

वह बोली—"हैं आप दीखते ही मृदु-उर, सुकुमार,
पर क्या सोच नगर से निकले इधर गाँव की ओर?
चार कोस आ गए धान के खेतों के इस छोर!
मैं देती हूँ दाब, आप सो जाएँ पाँव पसार।"
आँखें घूर्णित होती थीं, सोचा, सचमुच सो जाऊँ,
पैर छोड़ने को मैं क्षण-क्षण अनुनय-विनय सुनाऊँ—
पर वह मान सकी न। मान ली मैंने अपनी हार।
नींद आ गई। आप छुट गए सारे सोच-विचार।

२०

चौंक जगा मैं, लगी गुदगुदी प्राणों को कुछ ऐसी।
सीने पर मेरे तलवे रख मलती हौले-हौले—
बड़ा बुरा मालूम दिया। जब तक खूँ खौले-खौले—
हँस कर छोड़ दिया पैरों को। बोली बोली कैसी!'—
"दाब चुकी दोनों पैरों को अब क्या कहते करने?"
ऊब, डूब कर चुल्लू भर पानी में कहता मरने,
मगर लगी वह बातें करने फिर से जैसी-तैसी।
मनी-पर्स ले गई उठा, था दिल बैठाए मैं भी।

२१

यही असाधारण भ्रम का हो गया वहाँ पर कारण।
पूछा, बतला दिया, डेढ़ सौ तक होंगे कम-से-कम।
पूछा, इनके देने का तो होगा नहीं मुझे गम!
'नहीं' कहा मैंने कि प्रात गृह-ओर चरण-संचारण
तो कर सकूँ। जिगर में मेरे था यह खौफ समाया—
मुझे सुला, कर दे हलाल, है इसे लोभ हो आया।
मेरा मनीपर्स ही कर ले मारण-रूप न धारण।
थी 'सोने' की रिस्टवाच मेरे 'जगने' का कारण।

२२

एक-एक कर खोला खुद ही कच्चा चिट्ठा अपना।
बेवकूफियों का ताँता-सा बँधा हुआ दिखलाया,
क्यों कर इतनी रात गए था इधर चला मैं आया!
की प्रेतिन से बात, चाहिए जब गायत्री जपना।
सच्चरित्रता की तो इसने तभी लगा दी थाह,
जब अनजान जवान मर्द की निधड़क पकड़ी बाँह।
यह जो सत्य कठोर, लगा था कैसे मुझको सपना!
बन कर मूर्ख दिए रुपए, अब घर में बैठ कलपना।

२३

चार बजे थे, तमस्तोम था पर जैसा का तैसा।
कच-बच कच-बच कोई चिड़िया पीपल पर से बोली।
उसी समय हँसती-हँसती आई मेरी मुँह-बोली।
कहने लगी—'न बरसा पानी कभी आज का जैसा।
देखिए न, उस घर से इस घर आते-आते भींगी।
सो भी पाते नहीं आप, हो जाती धीगा-धींगी।
पैर दाब कर मगर आप से पाया इतना पैसा—
देख सकूँगी मर कर भी मैं अभी न यम का भैंसा।

२४

'फिर तो कभी-कभी आते ही जाते आप रहेंगे।
भूल जायँगे शहर पहुँच कर, हूँ इतनी न निराश।
राह देखती रह सकती हूँ मैं तो बारह मास।
भूल-भटक कर आ जाऊँगी भी, यदि आप कहेंगे।'
यों ही बक-बक करते-करते लेट गई वह साथ।
दाँत गड़ाने लगी गाल पर। मैंने पकड़ा माथ—
सत्यनाश हो गया। प्राण मेरे इतना न सहेंगे।
सुन कर हँसने लगी—'और क्या? अब तो यही कहेंगे!'

२५

इतनी निर्लज्जा नारी गाँवों में भी हो सकती!—
यही देखने को क्या मेरा जी था रहा ललचता?
मधुर सुधा के प्यासे को कैसे हालाहल पचता!
यही सोचता था मैं मन में। वह थी जाती बकती—
"बीस साल के तो होंगे ही आप बिना सन्देह?
जब से देखा, हुआ आपके प्रति ऐसा है स्नेह—
होते प्रात चले जाएँगे, आँखें सोच छलकती!
मधुर मिलन के छोटे क्षण में हूँ कितना कह सकती!"

२६

कुतुकमयी भावुकता इतना भी दे सकती कष्ट!—
कब सोचा था, तमस्तोममय होता चरम प्रकाश?
हमें दिखा कर नीचा इतना ऊँचा यह आकाश?
मुक्ति मिलेगी मुझे हाय, क्या होने ही पर भ्रष्ट?
फिर जीकर क्या होगा? पर होगा क्या यों मरकर भी?
क्या न निडर हो सकता मैं? पर होगा क्या डरकर भी?
यही सोचता था, तब तक हो गया सर्प से दष्ट।
मेरा हाथ रख लिया उसने अपने उर पर स्पष्ट!

२७

तपे तवे पर रखने पर भी जलती जो न हथेली,
वह भुन गई 'पयोधर' पर पड़ते ही, मैंने देखा,
मिटी आज तक भी न, बनी जो उस दिन जलकर रेखा,
मेरा था दम घुटता, उसको सूझी थी रँगरेली !
बोली--'कितना मृदु औ' शीतल अहा, आपका करतल!"
मैंने सोचा, किसी तरह हे प्रभु, यह जाय बला टल,—
बोला,—"इतनी ही वय में कितनी मुसीबतें झेलीं !
कभी आपके मन के वन की फूली नहीं चमेली !"

२८

यह सुन, बाँहें डाल गले में और निकट सट आई।
अब अपने को छोड़ दिया, होने दो, जो है होना,
हँसने का करते उपाय पड़ता जब फिर-फिर रोना !
सोचा, मेरे मौर्ख्य - कोष की ले ले पाई - पाई !
इस पूँजी से तो न गुजारा दुनिया में होने का,
इस विपरीत बुद्धि का मैं तो भार न अब ढोने का,
बार - बार फिसला देगी जीवन - तट की यह काई !
सिर कटवानेवाले का, लो, केश काटता नाई !

२९

उसने किए प्रयत्न जो कि कर सकती प्यासी नारी।
पर बालू से तेल निकल जाए, यह क्या आसान ?
हल्के झिटके से हिल जाए, वह दिल क्या पाषाण ?
एकाएक लगा मैं गाने, "घिरी बदरिया कारी !"
वह बोली, "पूरा कर डालें, कितना कोमल कण्ठ !"
"कहने पर न कभी गाता, मैं जनम - जनम का लण्ठ।"
'प्यारे, मोहन प्यारे', शत-शत बार कहा, पर 'प्यारी'—
व्यंग्य - भाव से भी मैंने न कहा, थी विधवा नारी !

३०

उसके बाहु - पाश में बँधकर भी स्वतन्त्र रहना था।
उसके जलते चुम्बन से कैसे होता रोमांचित!
उसके 'अचल' कुचों को छूकर क्यों होता 'चंचल' चित!
उसकी सौ सुन लो; न मुझे अब एक शब्द कहना था।
उसका अधर सुधा - धर हो, पर मुझे न उसको प्यास,
उसका स्नेह मुझे मिलता, लेता भी तज उच्छ्वास!
उसका हाथ ? सिन्धु में बहते को त्रिशूल गहना था!
उसकी तो सब सुन ली थी, पर मुझे न कुछ कहना था।

३१

पहले उसने कितना पावन प्रेम किया था व्यक्त!
वही भाव था, मैं जो उसके संग - संग आया था!
वही भाव भीगते हुए को साए में लाया था!
पर उसकी स्नेहोज्ज्वल आँखें अब कैसी थीं रक्त!
बहन - सुलभ उसकी पवित्रता वेश्यापन में बदली,
भ्रातृ - द्वितीया हुई होलिका के कीचड़ से गँदली!
उसका दुख मेरी विरक्ति थी, मेरा दुख अव्यक्त,
मैं उसको था 'शक्ति' समझता, पर वह मुझे अशक्त!

३२

दाँत गड़ाया पुनः प्रेम से, उठ बैठा तत्काल।
तब उसने निज ओर जोर से मेरे मुख को खींचा।
पटक - पटक पत्थर - उर पर मेरे गालों को फींचा।
आँखें, भवें, चिबुक झुक चूमे, चूमा भींगा भाल।
उस अगणित चुम्बन का सुख मुख से कैसे बतलाता!
और तनिक होती वयस्क, मैं कहता,—"अब बस माता,
इतना स्नेह न भरो रगों में, मैं सकता न सँभाल,
वार पुत्र पर करना चाहो, पहले दे दो ढाल!"

३३

कुपित नागिनी - सी अब करने लगी विषम फूत्कार।
जहर - भरा वह फेन पड़ा उड़ - उड़ कर मेरे मुख पर।
मृत्यु - रेख - सी देख पड़ी मेरे जीवन के सुख पर।
"मोहन प्यारे, आह ! नहीं हूँ क्या मैं सुन्दर नार ?
मेरी तरफ न तनिक ताकते, यों क्यों कर हो रूठे ?
तब से अब तक देख रही हूँ, तुम तो बड़े अनूठे !
यह आतुर उर अन्धकारमय लगता कारागार ?
भार हो उठा दुर्वह यह प्रिय, मेरा पागल प्यार ?

३४

"माना, मैं कुरूप हूँ तो फिर एक बात बतलाओ—
क्यों मेरे पीछे खूसट खाँ होता है हैरान ?
दारोगा साहब दिखलाते क्योंकर तीर - कमान ?
जमींदार--वह चिड़ीमार,—क्यों कहता है, 'आ जाओ--
मेरे रंगमहल में, किस्मत तुरत पलट जाएगी,
श्याम यामिनी में जीवन को नव ज्योत्स्ना छाएगी !
ठन्-ठन्-ठन् ! ये रुपए लो, गहनों से बदन सजाओ,
एक बार मेरे प्याले में जरा जहर भर जाओ !'

३५

"क्यों उस दिन बाजार-बीच था मचा हुआ हंगामा ?
जब मैं सौदा लेकर वापस चली आ रही थी घर,
मुझे सिखाता जमींदार था प्यार, दिखाता था डर !
बोली—"पिता, तुम्हारी पुत्री दुख की मारी क्षामा,
इसे कुसंस्कृत, पतित, भ्रष्ट कर क्या पाओगे, बोलो ?
इस अभागिनी के यौवन को रुपयों से मत तोलो।
किन्तु मुझे रक्खा हो अपने घर में दिवस-त्रियामा,
भ्रष्ट, नष्ट कर कहा, 'अहा, तुम प्यारी सुन्दरि, श्यामा !'

३६

"और, एक तुम तरुण अरुण हो, पड़ता जिसे न दीख—
कुछ भी मेरे पीत बदन में, धँसी हुई आँखों में,
बिना फूल की बिना कोंपलों की सूखी शाखों में!
लगती हूँगी कूचे में फेंकी ज्यों चूसी ईख!
सोच रहे हो, पिचके गालों पर न लालिमा छाती!
उमड़-उमड़ अम्बर पर छाती, यह न घटा घहराती!
किसी षोडशी की सुषमा से जाओगे सब सोख!
यह लो मनीपर्स अपना,·····मैं नहीं माँगती भीख!"

•

## हमारे प्रकाशन

- ☐ **चार अंकों का शून्य** (कहानी-संग्रह)
  —पाल भसीन
- ☐ **एक असाहित्यिक की डायरी** (आत्म-कथा)
  —आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री
- ☐ **गाथा** (कथा-काव्य)
  —आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री
- ☐ **आँखों में रेत-प्यास** (नवगीत-संग्रह)
  —देवेन्द्र शर्मा इन्द्र
- ☐ **सार्थक होने का अहसास** (कहानी-संग्रह)
  —उषा कश्यप
- ☐ **पंख होते हैं समय के** (नवगीत-संग्रह)
  —डॉ० राजेन्द्र गौतम

# गाथा



आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

प्रीति मन्दिर प्रकाशन